हरिदास संस्कृत सीरीज २१६

उपनिषत्तात्पर्यनिर्णय

संग्रहकर्ता
स्वामी अनन्तानन्द सरस्वती

चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी-1

हरिदास संस्कृत सीरीज
३१९
******

उपनिषत्तात्पर्यनिर्णय

संग्रहकर्त्ता
अनन्तश्री विभूषित स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती
(करपात्री) जी के शिष्य
स्वामी अनन्तानन्द सरस्वती

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस,
वाराणसी

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : द्वितीय, वि० सं० २०५७
मूल्य : ४० रु०

ISBN : 81-7080-041-2

के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन,
गोलघर (मैदागिन) के पास
पो० बा० नं० १००८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन { आफिस : ३२३४५८
आवास : ३३४०३२, ३३५०२०

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

कृष्णदास अकादमी

के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
पो० बा नं० १११८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ३३५०२०

HARIDAS SANSKRIT SERIES
319

UPANISATTĀTPARYANIRṆAYA

COMPILED BY
SWAMI ANANTANAND SARASWATI

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE, VARANASI.

Publisher : Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi.
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi.

ISBN : 31–7080–041–2

K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
Post Box No. 1008, Varanasi–221001 (India)
Phone : Office : 333458
Res. : 334032 and 335020

सम्मतियाँ

श्री अनन्तश्री विभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य
पूज्यपाद स्वामी श्री कृष्णबोधाश्रम जी महाराज

धर्मसङ्घ दुर्गाकुण्ड, वाराणसी ।
ता० २०—९—६३

उपनिषद् तात्पर्य निर्णय, नामक आपका निबन्ध देखा। इसमें सरल हिन्दी भाषा द्वारा आत्मतत्त्व का बोध कराया गया है। संस्कृत न जानने वाले जिज्ञासुओं को इससे लाभ होगा। हमारा शुभाशीर्वाद है।

अनन्तश्री विभूषित श्री १००८ स्वामी करपात्री स्वामी

धर्मसङ्घ दुर्गाकुण्ड, वाराणसी ५।
ता० १९—९—६३

श्रीमद्भिरनन्तानन्दसरस्वती स्वामिमहाभागैः सङ्कलितं उपनिषत्तात्पर्यनिर्णयः सन्दर्भं क्वचित्क्वचित्स्थालीपुलाकन्यायेनावलोक्य मुदमवहम्। सन्दर्भोऽयमञ्जसा तत्त्वबुत्भूसूनां हृदि तत्त्वं प्रकटयन् समुदियादिति शुभाशंसनपूर्वकं बहुमन्वानः—

अनन्तश्री विभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य काशीस्थ ऊर्ध्वाम्नाय सुमेरु पीठाधीश्वर महेश्वरानन्द सरस्वती

ता० २१—१०—६३ धर्मसङ्घ, वाराणसी।

श्री सम्माननीय दण्डी स्वामी श्री अनन्तानन्द सरस्वती ने ईश आदि दश उपनिषदों पर सरल हिन्दी में जो उपनिषत् तात्पर्यनिर्णय' प्रस्तुत किया है वह अत्यन्त सुन्दर है। इसमें तात्पर्यनिर्णयार्थ सर्वमान्य 'उपक्रमोपसंहारौ' इस प्रमाण के अनुसार तात्पर्य का स्पष्टीकरण किया गया है। अखण्ड, स्वप्रकाश,

सत्, चित्, आनन्द, त्रिकालाबाध्य, सर्वभेदशून्य, एक, सर्वव्यापक, सर्वोपाधि-विवर्जित, सर्वाधिष्ठान, कार्यकारणातीत, श्रुति-स्मृति, पुराण, इतिहास प्रभृति समस्त सच्छास्त्रों का चरम-परम तात्पर्य विषय, अग्राह्य,अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, अथ च सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर, समस्त प्रपञ्च के सृष्टि-स्थिति-संहार कारण व निखिलकल्याण गुणगण निलय, भक्तवत्सल, सर्वसुन्दर, अकारणकरुण, करुणावरुणालय, विश्वनाथ परब्रह्म ही वेदान्त का अन्तिम प्रतिपाद्य है। इसका यथार्थ बोध होने से ही भवाटवी में भटकते प्राणी प्रेय तथा चरम लक्ष्य श्रेय—मोक्ष के भागी हो सकते हैं। लघु किन्तु सारगर्भ स्वामी जी के इस प्रामाणिक ग्रन्थ से यह अभीष्ट सिद्ध होगा, मुमुक्षु तथा मनीषिमण्डल का कल्याण होगा और अनेक अधीती इसके द्वारा अभिलषित प्राप्त करने में सफल होंगे। एतदर्थं में इसके प्रचार का समर्थन करता हूँ तथा स्वामी जी को साधुवाद करता हूँ।

श्री स्वामी अनन्तानन्द जी महाराज का यह संग्रह सहृदय भावकों के लिए अतीव उपयोगी अतएव नितरां संग्राह्य है। वेदान्त के तत्त्वों का निर्देशन इतना सुन्दर हुआ है कि स्वामी जी के लिए धन्य-धन्य स्वतः प्रादुर्भूत होता है।

मधुसूदन शास्त्री
साहित्यविभागाध्यक्ष
B.H.U. संस्कृत महाविद्यालय वाराणसी।

भूमिका

श्री बदरीनाथ शुक्ल, एम. ए. न्यायवेदान्ताचार्य,
प्राध्यापक, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

वेद भारतवर्ष की सर्वोत्तम निधि है। वह इतनी महान् एवं सर्वाङ्गपूर्ण है कि उससे न केवल भारत की ही, अपितु समूचे संसार की सारी आवश्यकताएँ अनन्तकाल तक पूरी होती रह सकती हैं। उपनिषदें उस महान् वेद के महत्तम अङ्ग हैं और उन्हें इस बात का श्रेय एवं गौरव प्राप्त है कि उन्होंने उस भारतीय उपलब्धि की दिशा अत्यन्त स्पष्ट तथा अन्तिम रूप से निर्धारित कर दी है, जिसके लिये सारी मानवजाति आकुल तथा प्रयत्नशील है। उपनिषदों का यह गगनभेदी उद्घोष है कि "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति"—जो भूमा है, महान् है, सर्वतो महान् है, असीम है, जिसमें किसी प्रकार की कोई न्यूनता नहीं है- उसी में सुख है अथवा वही सुख है। जो अल्प है, सीमाबद्ध है, न्यून है, उसमें सुख नहीं है।

सर्वसुख के भूमिभूत उस 'भूमा' की जानकारी प्राप्त करने के लिये भारत के तत्त्वचिन्तकों ने उपनिषदों का गम्भीर अनुशीलन किया है, अथक परिश्रम किया है, लम्बी साधनाएँ की हैं। इस पावन प्रयास में भगवान् शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य मध्वाचार्य आदि महापुरुषों का योगदान चिरश्लाघ्य है।

प्रसिद्ध स्वामी श्री करपात्री जी महाराज के सुयोग्य शिष्य आदरणीय स्वामी श्री अनन्तानन्द जी महराज ने अपने प्रस्तुत ग्रन्थ 'उपनिषत्तात्पर्य-निर्णय' में 'भूमा' का क्या स्वरूप उपनिषदों को अभिप्रेत है, इसका निर्णय करने के लिये स्तुत्य एवं प्रमाणसङ्गत प्रयत्न किया है।

किसी ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय करने के लिये मनीषियों ने छः आधार माने हैं, जो ये हैं—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

(१) उपक्रमोपसंहारौ—ग्रन्थ के उपक्रम (प्रारम्भ) और उपसंहार (समाप्ति) में प्रतिपादित विषय की एकरूपता।

(२) अभ्यास—ग्रन्थ के मध्य में विषय का पुनः-पुनः उल्लेख ।

(३) अपूर्वता—विषय की स्वरूपगत, प्रतिपादन शैलीगत या उभयगत नवीनता ।

(४) फल—विषय के परिज्ञान का प्रयोजन ।

(५) अर्थवाद—विषय की प्रशंसा ।

(६) उपपत्ति—प्रमाणों और युक्तियों से विषय का समर्थन ।

इन आधारों के अनुसार किसी भी ग्रन्थ का तात्पर्य उसी विषय के प्रतिपादन में मान्य होता है, जो ग्रन्थ के आरम्भ एवं समाप्ति—दोनों भागों में प्रतिपादित हो, ग्रन्थ में पुनः-पुनः उल्लिखित हो, नवीन हो या नवीन शैली से वर्णित हो, जिसके ज्ञान का कोई विशिष्ट प्रयोजन बताया गया हो, जिसकी प्रशंसा की गयी हो और जिसके समर्थन में प्रमाणों और युक्तियों का प्रयोग किया गया हो ।

श्री स्वामीजी ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक—इन दश प्रसिद्ध उपनिषदों में उक्त छहों तात्पर्यनिर्णायकों का प्रदर्शन कर यह सिद्ध करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है कि उन सभी उपनिषदों का तात्पर्य यह बताने में है कि इस सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च की कल्पना जिस आधार पर आधारित है, वह एक ऐसा तत्त्व है जो त्रिकालाबाधित, स्वप्रकाश, आनन्दघन और एकमेव अद्वितीय है । वही ब्रह्म है, वही समस्त प्राणियों की आत्मा है, वही भूमा है और वही है विशुद्ध आनन्द का असीम समुद्र । विश्व के कण-कण में उसे देखना और सर्वत्र उसके साथ अपनी एकात्मता की अनुभूति करना ही मानव जीवन का लक्ष्य है ।

जिस दिन विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के कर्णधार इस तथ्य को हृदयङ्गम कर इसकी प्राप्ति के लिये सामूहिक अभियान का सङ्कल्प करेंगे, निश्चय ही वह दिन सारे संसार की मानवजाति के लिये महामङ्गल का दिन होगा ।

श्री स्वामीजी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी में उपनिषदों के इस रहस्य को उद्घाटित करने का जो प्रयत्न किया है, उसके लिये वे सभी विश्वहितैषी पुरुषों के धन्यवाद के पात्र हैं ।

भगवान् विश्वनाथ से यह प्रार्थना है कि इस ग्रन्थ के अध्ययन से अध्येताओं के हृदय में ब्रह्मात्मभावना अंकुरित, विकसित, पल्लवित, पुष्पित और फलित हो ।

प्राक्कथन

समस्त उपनिषदों का तात्पर्य सत् स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप ब्रह्म के प्रतिपादन में ही है। वही सत् स्वप्रकाश ब्रह्म समस्त चराचर का आत्मा है। इसी ब्रह्मात्मैकत्व के ज्ञान से मोक्ष और इसी के अज्ञान से जाव को जन्म-मरणरूप संसार की प्राप्ति होती है। ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान ही परम पुरुषार्थ है। धर्म, अर्थ और काम परम पुरुषार्थ के सहायक हैं, इसी के सहारे परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। भारतवासियों का सदा से परम पुरुषार्थ ही लक्ष्य रहा है। यह ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान एकमात्र उपनिषद् के परिशीलन से ही प्राप्त हो सकता है, यह बात उपनिषद् शब्द के अर्थ से ही स्पष्ट हो जाता है।

विशरण, गति और अवसादन अर्थ को बताने वाला उप+निपूर्वक षद्लृ धातु से क्विप् प्रत्यय होकर उपनिषद् शब्द बनता है। इसका अर्थ यह होता है कि जो साधक दृष्टानुश्रविक ऐहिक तथा पारलौकिक सभी प्रकार के भोगों से विरक्त होकर उपनिषद् शब्द-वाच्य ब्रह्मविद्या का निष्ठापूर्वक परिशीलन करता है, उसके अविद्यादि संसार बीज का नाश हो जाता है। अथवा जिससे उपर्युक्त प्रकार के साधक को ब्रह्म प्राप्त हो जाता है। अथवा जिस विधान से उक्त साधक के बारम्बार गर्भवास-जन्म-जरादि उपद्रवसमूह के कारणभूत काम कर्म ग्रन्थि की समाप्ति हो जाती है। इन्हीं अर्थों के योग से इस उपनिषद् शब्द से ब्रह्मविद्या का बोध होता है।

यह जीव अनादिकाल से अनित्य संसार में जन्म-मरणादि दुःखों को सहता हुआ भटक रहा है। इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-निवृत्ति के अनेकों प्रकार के लौकिक और वैदिक उपायों को करता रहता है, किन्तु दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो पाती। वैदिक सकाम कर्मों के अनुष्ठान से स्वर्गादि सुख प्राप्त होता है, परन्तु अन्त में उसका भी विनाश हो जाता है।

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति—गी० ९।२१

अतः उपनिषद् वेद्य सत् स्वप्रकाश परमानन्द स्वरूप ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान ही परमश्रेय का कारण कहा गया है, यही परम पुरुषार्थ है।

वह सत् स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप ब्रह्म व्यापक है, सर्वान्तरात्मा है, सबका नियामक एवं सर्वावभासक है। उसी के प्रकाश से मिथ्याभूत भी जगत् सत्यवत् प्रतीत हो रहा है।

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं'—मु० २-२-१०

अपने से किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति में तो प्रयास की अपेक्षा होती है, किन्तु वह सर्वेश्वर तो सबका आत्मा है फिर उसे पाने में क्या प्रयास ?

न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः।
आत्मत्वात्सर्वभूतानां नित्यत्वादिह सर्वतः॥ भाग० ७।६।१६

यज्ञादि द्वारा स्वर्गादि अदृष्ट फलों की प्राप्ति में तो किसी को संशय हो सकता है—'कर्मफले स्वर्गादौ अनुभवानारूढ़े स्यात् शंका भवेद्वा न वा, अनुभवारूढं तु ज्ञानफलम्। भाष्ये, किन्तु 'आत्मा में—अपने स्वयं के विषय में तो किसी को संशय नहीं होता। जैसा कि आत्मा शब्द की निरुक्ति से स्पष्ट है—

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भावो तेनात्मेति कीर्त्यते॥

आत्मा सत् स्वकाश परमानन्दस्वरूप है। सत् स्वप्रकाश ही चिद्रूपता है, एवं चिद्रूप की त्रिकाला बाध्यता ही सद्रूपता है, तथा सर्वोपाधि विनिर्मुक्त अखण्ड एकरसता ही परमानन्दरूपता है।

जो मनुष्य इस सत् स्वप्रकाश परमानन्द ब्रह्मात्मैकत्व को बिना जाने इस लोक में जो भी हवन, यज्ञ और तप बहुत वर्षों तक करता है उसका वह सब अन्त में विनष्ट हो जाता है, एवं आत्मतत्त्व के बिना जाने जो मर जाता है वह कृपण कहलाता है।

"अविदित्वाऽस्मिल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यतेह्लवहनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति, 'अविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः ॥३।८।१ बृ०।

अतः ब्रह्मात्मैकत्व के बोध के लिये वेदान्त का श्रवण अवश्य करना चाहिए। श्रवण क्या है ? श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्।

वेदान्तानामशेषाणामादिमध्यावसानतः ।
ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमितिधीः श्रवणं भवेत्॥

समस्त वेदान्तों का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्मात्मैकत्व वस्तु में ही है, इस निश्चयात्मिका बुद्धि का नाम श्रवण है। इस उपनिषद् तात्पर्य निर्णय नामक पुस्तक में षड्विध लिङ्गों से ब्रह्मात्मैकत्व का ही वर्णन किया गया है। जो साधक नित्य, नैमित्तिक और निष्काम कर्मों के अनुष्ठान से शुद्धान्तःकरण होकर ब्रह्मनिष्ठ आचार्य से इसका श्रवण करेगा वह ब्रह्मात्मैकत्व बोध प्राप्त कर जन्म-मरणरूप प्रवाह को पार कर निश्चय ही शाश्वत शान्ति प्राप्त करेगा। प्रस्तुत पुस्तक से यदि कुछ लोगों को भी ब्रह्माभिमुखी प्रेरणा प्राप्त हो सकी तो इसके निर्माण को सफल समझा जाएगा।

संशोधन कार्य में सहयोग देकर जिन लोगों ने इस कार्य को प्रशस्त एवं सुगम बनाया है उन लोगों में पं० मूलशंकर जी वेदान्ताचार्य, अध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय तथा पं० मध्वाचार्य जी, मीमांसाचार्य, भू०पू० अध्यापक, सं० म० हि० वि० वि० वाराणसी भूरि भूरि धन्यवाद के पात्र हैं।

पं० रामनाथ जी की
अतिथि शाला
लोलार्क कुण्ड
वाराणसी

श्री अनन्तश्री विभूषित
श्री स्वामी हरिहानन्द सरस्वती
(करपात्री) जी के शिष्य
अनन्दानन्द सरस्वती

श्री गुरु करपात्री जी महाराज

के

चरणों में

समर्पण

॥ श्रीः ॥

उपनिषत्तात्पर्यनिर्णयः

—ooooo—

यत्सत्तालवलेशमात्रमखिलं ब्रह्माण्डभाण्डोदरं
मिथ्याऽप्येतदतीव सत्यसदृशं विज्ञायतेऽज्ञानिभिः ।
यद्‌गत्वा न निवर्ततेऽमृतपदं यत्सेवयाऽऽपाद्यते
सोमः सोमधरोऽवतान्निजजनान् श्रीविश्वनाथो प्रभुः ॥

अथ ईशावास्योपनिषद्

ॐ ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

—इत्युपक्रमः

यह जो कुछ जगति—पृथिवी में चर-अचर प्राणिवर्ग है, वह सब ईश अर्थात् प्रत्यगात्मतया 'अहमेवेदं सर्वम्' इस परमार्थ सत्य से आच्छादित है। इस परमार्थ भावना का पालन करते हुए समस्त नाम-रूप कर्माख्य विकारजात का त्याग करो तथा किसी के धन की इच्छा न करो।

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः । —उपसंहारः

वह आत्मा शुक्र—शुद्ध है, दीप्तिमान् है, अकाय-अशरीरी लिङ्ग-शरीर से रहित है, तथा अव्रण--अक्षत है, अस्नाविरं-स्नायुशिरा से रहित है। इससे इसे स्थूल-शरीर से रहित जानना चाहिए एवं शुद्ध निर्मल अविद्यारूप मल से रहित और अपापविद्ध होने से कारणशरीर से भी रहित है। कविः—क्रान्तदर्शी—अतीतदर्शी, मनीषी—मनस ईषिता सर्वज्ञ, परिभूः सबके ऊपर है, स्वयम्भूः—स्वयं होता है। वह नित्य-मुक्त ईश्वर, यथा तथा भावो—याथातथ्यं—शाश्वत नित्य समाओं अर्थात् सम्वत्सर नामक प्रजापतियों को यथाभूत कर्म, फल और साधन के अनुसार ठीक-ठीक कर्तव्यों को बाँट दिया है।

'अनेजदेकं मनसो जवीयो।' ४

वह प्रकृत आत्म तत्त्व—स्वरूप से विचलित नहीं होता है। एक और मन से भी तीव्र वेगवान् है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

जो साधक सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में तथा समस्त भूतों में आत्मा को देखता है वह किसी से घृणा नहीं करता है।

नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ॥ —अपूर्वता

प्रकरण में कथित आत्मतत्त्व को देवता गण भी उपलब्ध नहीं कर सके। वेगवान् होने से पहिले गया हुआ-सा है। यहाँ देवगण से इन्द्रियों के अनुग्राहक देवता भी व्यापक आत्मा को उपलब्ध नहीं करते—ऐसा जानना चाहिए।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

—फलम्

जिस काल में परमार्थ तत्त्वदर्शी पुरुष की दृष्टि में सब भूत आत्मा ही हो जाता है, उस काल में एक तत्त्वदर्शन से क्या शोक, (मोह-शोक) और मोह होवे ? अर्थात् मोह और शोक से रहित हो जाता है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।२।।

यदि सौ वर्ष जीने की इच्छा करते हो तो कर्म करते हुये ही जीओ। इससे अन्य कोई ऐसा प्रकार नहीं है, जिससे अशुभ कर्मों का लोप न हो।

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।

ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।

—अर्थवादः

परमात्म भाव की अपेक्षा देवादि शरीर भी असुर ही है, उनका लोक भी आसुर लोक ही है। आत्मा के अदर्शन अज्ञानान्ध से जो आच्छादित हैं, वे सब इस शरीर के छूटने पर अपने-अपने ज्ञान-कर्मानुसार स्थावरपर्यन्त सभी योनियों में जाते हैं, जो आत्मघाती हैं, अर्थात् नित्य विद्यमान अजर-अमरत्वादि ज्ञान जिनका तिरस्कृत है; इसका तात्पर्य यह है कि यह प्राकृत जीव इसी आत्मघातरूप दोष के कारण ही जन्म-मरणरूप संसार में भटकता रहता है।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।५।।

यह आत्मतत्त्व चलता भी है और नहीं भी चलता है, अर्थात् स्वयं अचल होते हुए भी उपाधि से चलते हुए के समान जान पड़ता है। वह दूर भी है तथा अत्यन्त समीप भी है, अज्ञानियोंके लिए सैकड़ों वर्ष में भी अप्राप्य होने से दूर है और ज्ञानियों को आत्मा ही होने से समीप हीहै। वह सबके अन्तर में और सबके बाह्य भी है।

इति ईशावास्योपनिषत् ।।

अथ केनोपनिषद्

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचꣳ स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकाद-मृता भवन्ति ॥

—उपक्रमः

लौकिक पुरुष किसके द्वारा प्रेरित होकर वाणी बोलते हैं ? तथा कौन देव चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों को अपने-अपने व्यापार में प्रेरित करता है ? इसका उत्तर है—**श्रोत्रस्य श्रोत्रमिति** ।

वह आत्मदेव श्रोत्र का भी श्रोत्र है, मन का भी मन है, वाणी की भी वाणी, प्राण का भी प्राण और चक्षु का भी चक्षु है । इसका तात्पर्य यह है कि श्रोत्र में अपने विषय—शब्द को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य नित्य असंहत सर्वान्तर चेतन आत्मज्योति के रहने पर ही होता है, नहीं रहने पर नहीं हो सकता, अतः श्रोत्र का भी वह श्रोत्र है । मनसो मनः—मन अर्थात् अन्तःकरण में चैतन्य स्वप्रकाश ज्योति के बिना अपने विषय-संकल्पादि का सामर्थ्य नहीं होता, अतः वह मन का भी मन है । उसी के द्वारा प्राण में प्राणन शक्ति, वाणी में प्रकाश करने की शक्ति एवं चक्षु में रूप ग्रहण करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है तथा जिसके लिये यह सम्पूर्ण इन्द्रियसमूह अपने-अपने विषय में प्रवृत्त है, वही ब्रह्म है । उसको जानकर धीर पुरुष संसार-श्रोत्रादि में आत्मभाव से मुक्त होकर अमृत हो जाते हैं ।

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥२-४॥

—उपसंहारः

प्रतिबोधविदितं—यहाँ बोध शब्द से होनेवाले ज्ञान का कथन है । अर्थात् समस्त ज्ञानों का जो विषय—कर्त्ता है वह आत्मा है । सम्पूर्ण प्रतीतियों के साक्षी चिच्छक्तिस्वरूपमात्र होने के कारण प्रतिबोध में सामान्य रूप से जो लक्षित होता है वह ब्रह्म है । उस ब्रह्मज्ञान से अमृतत्व की प्राप्ति होती है । आत्मस्वरूप से अमृतत्व और विद्या

से अज्ञान-निवृत्ति का सामर्थ्य प्राप्त होता है। 'आत्मना स्वेन रूपेण विन्दते लभते वीर्यं बलं सामर्थ्यं नान्येन, यत एवं अतो विद्यया आत्मविषया विन्दते अमृतम्' ॥ २-४ ॥

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१-४॥

वह चैतन्यमात्र सत्तास्वरूप ब्रह्म वाणी से प्रकाशित नहीं होता है। जिस चैतन्य ज्योति ब्रह्म के द्वारा वागिन्द्रिय सहित वाणी विवक्षित अर्थ में प्रकाशित होता है, जो वाणी की भी वाणी है—ऐसा कहा गया है, उसी को तुम ब्रह्म जानो। जिस उपाधि-विशिष्ट की उपासना करते हो, वह ब्रह्म नहीं है।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१-५॥

यहाँ मन और बुद्धि का एकत्व से ग्रहण है। सर्वविषयव्यापक होने से काम, संकल्प, बिचिकित्सा, श्रद्धा आदि सब मन ही है। इस मन के द्वारा वह चैतन्य ज्योति जो मन का भी अवभासक है, वह मनन नहीं किया जाता। जो मन का भी मन कहा गया है उसी को तुम ब्रह्म जानो। जिस उपाधिविशिष्ट की उपासना तुम करते हो वह ब्रह्म नहीं है।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१।६॥

जिसको चक्षु विषय नहीं कर सकता, किन्तु जिस चैतन्य आत्म-ज्योति के द्वारा चक्षु अपने विषय में रूप को ग्रहण करने में समर्थ होता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो। जिस उपाधिविशिष्ट की उपासना तुम करते हो वह ब्रह्म नहीं है।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदँ श्रुतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥१।७॥

जो श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा विषय नहीं किया जा सकता,जिस चैतन्यात्म-

ज्योति के द्वारा श्रोत्र शब्दों को सुनता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो। जिस उपाधिविशिष्ट की उपासना तुम करते हो वह ब्रह्म नहीं है।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्राणीयते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।१।८।।

यहाँ प्राण का अर्थ घ्राण है। जो घ्राणेन्द्रिय का विषय नहीं है, जिस आत्मचैतन्य ज्योति से घ्राण अपने विषय—गन्ध को ग्रहण करता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो। जिस उपाधिविशिष्ट की तुम उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है। —इत्याद्यभ्यासः

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः न विद्मो न विजानीमो यथैतदनु शिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ।।१।३।।

—अपूर्वता

उस ब्रह्म में चक्षु नहीं जाती, वाणी और मन भी नहीं जाता। जो वस्तु करण-गोचर होता है वह वस्तु तो जाति, गुण, क्रिया आदि विशेषणों के द्वारा दूसरे को उपदेश किया जाता है, किन्तु ब्रह्म जाति गुण, क्रिया आदि से रहित है, अतः जिस प्रकार से ब्रह्म का शिष्य के प्रति उपदेश किया जाय वह हम नहीं जानते हैं।

इसका तात्पर्य यह है ब्रह्म अतीन्द्रिय है। इसकी प्रतीति कराना कठिन है, अतः श्रुति के अर्थग्रहण में अधिक प्रयत्न करना चाहिए। वह ब्रह्म विदित से अन्य और अविदित से भी अन्य है। विदित का अर्थ होता है—विदित क्रिया के कर्मभूत नामरूपात्मक व्याकृत वस्तु। ब्रह्म नामरूपात्मक व्याकृत नहीं है, अतः विदित नहीं है। तो फिर ब्रह्म अविदित—अज्ञात है, ऐसा मानें, इस पर श्रुति कहती है—'अविदितादधि' इसका मतलब यह कि वह अविदित से भी अन्य है। विदित व्याकृत पदार्थों की बीजभूत अविद्यारूप जो अव्याकृत उससे भी ब्रह्म अन्य है। अथवा जो वस्तु विदित होती है वह मरणशील और दुःखमय होती है। इसलिये भी ब्रह्म विदित से अन्य है। और जो वस्तु अविदित होती है वह अनुपादेय होती है। अतः ब्रह्म विदित और अविदित से भी अन्य है। ऐसा हमने पूर्वपुरुष से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति ब्रह्म का व्याख्यान किया था।

भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥२।५॥ —फलम्

धीर पुरुष भूत-भूत में अर्थात् सम्पूर्ण चर-अचर में एक आत्मतत्त्व को जानकर—साक्षात् करके अविद्यात्मलोक से मरकर अमृतत्व प्राप्त कर लेते हैं।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ।

इत्यादि १ से १२ पर्यन्त मंत्र अर्थवाद है।

उपरोक्त लक्षण वाले ब्रह्म ने देवता और असुरों के संग्राम में असुरों को जीतकर देवताओं को जयरूप उसका फल दे दिया। ब्रह्म की उस विजय से देवगण महामहिमा प्राप्त किये। प्राणियों की सम्पूर्ण क्रिया फलों से संयोग कराने वाली सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर की ही जय और महिमा है, यह न समझकर हम लोगों की ही विजय हुई है, इस विजय का फलभूत अग्नित्व, वायुत्व और इन्द्रत्व यह महिमा हमारी ही है, देवगण ऐसा अभिमान करने लगे। —अन्त

देवताओं के इस अभिमान को ब्रह्म ने जान लिया, क्योंकि ब्रह्म ब्रह्म समस्त जीवों के अन्तःकरण का प्रेरक होने से सबका साक्षी है। इस अभिमान को जानकर उनके ऊपर दया करके उनका अभिमान दूर कर उन्हें अनुगृहीत करूँ—यह विचार कर योगमाया के आश्रय से देवताओं को विस्मित करने वाले अति अद्भुत स्वरूप से उनके सामने प्रकट हुआ। उस अद्भुत स्वरूप को देवता नहीं जान सके।

देवताओं ने कहा—हे अग्ने ! इस यक्ष को विशेष रूप से जानो कि यह यक्ष कौन है। तथेति, कहकर अग्नि यक्ष के समीप गया। अप्रगलभता के कारण चुपचाप खड़ा प्रश्न करने की इच्छा वाले उस अग्नि से यक्ष ने कहा—तुम कौन हो ? यक्ष के पूछने पर—मैं अग्नि नाम से प्रसिद्ध जातवेदा हूँ। अग्नि की दो नामों से प्रशंसा सुनकर पुनः यक्ष ने पूछा—प्रसिद्ध नाम वाले तुझमें क्या सामर्थ्य है ? इसके उत्तर

में अग्नि बोला—जो कुछ चराचर जगत् है, उन सबको मैं जला सकता हूँ। इस प्रकार अभिमानी उस अग्नि के लिये यक्ष ने एक तिनका सामने रखा और कहा—इसे जलाओ, यदि तुम इसे जलाने में समर्थ नहीं हो तो समस्त चराचर को जलाने का अभिमान छोड़ दो। यक्ष के ऐसा कहने पर वह अग्नि सम्पूर्ण बल से उस तृण के पास गया, किन्तु तृण को जलाने में समर्थ नहीं हुआ। तृण न जलाने से हतप्रभ अग्नि लौट कर देवताओं से बोला कि इस यक्ष को मैं नहीं जान सका कि यह कौन है।

इसके बाद देवताओं ने कहा—हे वायो ! तुम जानो कि यह यक्ष कौन है। तथास्तु कहकर वायु यक्ष के पास गया। यक्ष ने पूछा—तुम कौन हो ? वायु ने कहा—मैं वायु हूँ, मातरिश्वा हूँ। पुनः यक्ष बोला; तुममें क्या सामर्थ्य है ? इसके उत्तर में वायु बोला—यह जो कुछ जगत् है उसको उड़ा सकता हूँ। यक्ष ने वायु के सामने एक तृण रखकर कहा—इसे उड़ाओ। वायु अपने समस्त वेग से भी उस तृण को न उड़ा सका। निस्तेज वायु लौट कर देवताओं से बोला कि यह यक्ष कौन है, मैं नहीं जान सका।

इसके बाद देवताओं ने इन्द्र से कहा—हे भगवन् ! इसे तुम जानो कि यह यक्ष कौन है। तथास्तु कहकर इन्द्र यक्ष की ओर चला। इन्द्र को समीप आया देखकर यक्ष अन्तर्धान हो गया। इन्द्र का बढ़ा हुआ इन्द्रत्व का अभिमान तोड़ने के लिये सम्वादमात्र का भी अवसर उसने नहीं दिया।

तदनन्तर जिस आकाश में यक्ष अन्तर्धान हुआ था, इन्द्र बहुत काल तक यह सोचता हुआ कि यह यक्ष कौन था ? खड़ा रहा, लौटा नहीं। इन्द्र की उस यक्ष में भक्ति देखकर स्त्रीवेषधारिणी उमारूपी विद्यादेवी प्रकट हुईं। इन्द्र ने उनके पास जाकर पूछा कि आप बतलाइये कि इस प्रकार दर्शन देकर अन्तर्धान होने वाला यह यक्ष कौन था ? उत्तर में विद्या देवी ने स्पष्ट रूप से कहा—यह ब्रह्म है। तुम लोग ब्रह्म की ही विजय से इस प्रकार महिमावान् हुये हो। तब से ही इन्द्र ने जाना कि यह ब्रह्म है।

इस आख्यायिका का तात्पर्य यह है कि देहाभिमान दूर होने पर ही ब्रह्मविद्या के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह कि ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है। तृण को वज्र और वज्र को तृण एवं ब्रह्मा को कीट और कीट को ब्रह्मा बना सकने में वह समर्थ है। —अर्थवादः

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥२-३॥

जिस ब्रह्मविद् को यह निश्चय है कि ब्रह्म अमत—अविदित है, उस ब्रह्मविद् को ब्रह्म विदित—अर्थात् ज्ञात है और जिसको ब्रह्म मुझे विदित-विज्ञात हो गया—यह निश्चय है उसे ब्रह्म का ज्ञान नहीं है, ऐसा जानना चाहिए। —इत्युपपत्तिः

इति केनोपनिषद्।

अथ कठोपनिषद्

आत्मतत्त्व दुरूह है, अतः सुखाववोधार्थ यह आख्यायिका है। वाजश्रवस् नाम के एक ऋषि ने फल की कामना से जिस यज्ञ में सर्वस्व अर्पण किया जाता है उस विश्वजित् नामक यज्ञ को किया। 'उस यज्ञ में अपना सारा धन उसने दे दिया।' उस यजमान का एक पुत्र था, उसका नाम नचिकेता था। जिस समय दक्षिणा दी जा रही थी उस समय वृद्धा-वृद्धा गौओं देख कर उसने श्रद्धायुक्त होकर अपने पिता की कल्याण-भावना से विचार किया कि इन गौओं के देने से तो पिता को दुःखप्रद लोक ही प्राप्त होगा। अतः सत् पुत्र को उचित है कि आत्म-बलिदान करके भी पिता को दुःख से बचावे।

यह विचार कर वह अपने पिता से बोला कि हे तात ! मुझे किस ऋत्विज को दक्षिणा में देंगे। दो, तीन बार ऐसा कहने पर पिता ने कहा–तुझे मृत्यु को देंगे। इतना कहने पर उसने विचार किया कि मृत्यु को देने से कोई विशेष प्रयोजन तो नहीं है, किन्तु पिता ने क्रोध में आकर ही ऐसा कह डाला है। इसके अनन्तर ही वाजश्रवस् को चिन्ता हुई कि

मैंने यह क्या कह डाला। चिन्ता से व्याकुल अपने पिता को देखकर पिता का वचन मिथ्या न हो जाय, इस विचार से नचिकेता बोला—

"अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः॥"

हे पिता जी अपने पूर्वज पिता-पितामहादि के व्यवहार को विचार कीजिए तथा वर्तमान सत् पुरुषों के व्रत का भी अवलोकन करके देखिये, इनमें से किसी का भी आचरण अपने वचन को मिथ्या सिद्ध करने वाला नहीं था। असत् पुरुष ही अपने वचन को मिथ्या करते हैं। अपने वचन को मिथ्या करके कोई भी अजर-अमर नहीं होता। प्राणी पौधे के समान पकता है और पौधे की तरह ही पुनः उत्पन्न होता है। असत्य आचरण से कोई लाभ नहीं, अतः अपने सत्य का पालन कीजिए और मुझे मृत्यु के पास भेजिये।

पुत्र के इस प्रकार कहने पर अपने सत्य की रक्षा करने के लिए पिता ने उसे यमराज के यहाँ भेज दिया। यमराज के घर पहुँच कर नचिकेता तीन रात्रि टिका रहा। यमराज जब ब्रह्मा के लोक से आये तब उनकी पत्नी और मन्त्रियों ने कहा कि ब्राह्मण अतिथि के रूप में साक्षात् जलता हुआ-सा वैश्वानर अग्नि ही घर में प्रवेश करता है। उस अग्नि के दाह की शान्ति करने के लिये सद्गृहस्थ पाद्य-अर्घ्य पूजनादि से उसकी शान्ति करते हैं। अतः शान्ति के लिये आप भी जलादि लेकर जाइए। अतिथि-सत्कार न करने से प्रत्यवाय भी होता है। ऐसा सुना जाता है।

आशा-प्रतीक्षे संगतँ सूनृतां च इष्टा-पूर्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान्। एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे॥

जिसके गृह में ब्राह्मण अतिथि बिना भोजन किये रह जाता है, उस मन्द बुद्धि की आशा-अप्राप्त वस्तु के प्राप्ति की इच्छा, प्रतीक्षा—ज्ञात वस्तु की प्राप्ति में विलम्ब, सत् संग के पुण्यसूनृत—प्रियवाणी और प्रियवाणी से होने वाला फल एवं इष्ट—यज्ञादि तथा पूर्त आरामादि क्रियाओं से होने वाला फल और पुत्र, पशु आदि को नष्ट कर देता है।

अतः अतिथिसत्कार अवश्य कीजिये। इस प्रकार मन्त्रियों के कहने पर यमराज अतिथि नचिकेता के पास जाकर उनका विधिपूर्वक पूजन करके बोले।

हे ब्रह्मन्! आपके लिए नमस्कार है। आप अतिथि हैं, नमस्कार करने योग्य हैं तथापि मेरे घर तीन रात्रि बिना भोजन किये रह गये हैं, अतः एक-एक रात्रि के लिए एक-एक वरदान अर्थात् तीन वरदान माँगिये।

नचिकेता बोला—प्रथम वरदान से मेरे पिता के हृदय में जो यह दुःसंकल्प है कि यमराज मेरे पुत्र का क्या करेगा इत्यादि, वे संकल्प शान्त होवें एवं वे प्रसन्न मन और क्रोधरहित होवें और आपके द्वारा भेजने पर पहचान कर मुझसे यथापूर्व वार्तालाप करें, यही वर देवें। यमराज के तथास्तु कहने पर द्वितीय वरदान माँगते हुए नचिकेता बोला—

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके। स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तँ श्रद्दधानाय मह्यम्॥

हे मृत्युदेव! जिस स्वर्ग में कुछ भी भय नहीं है,जहाँ आप भी कुछ नहीं कर पाते, जहाँ कोई वृद्धावस्था से नहीं डरता एवं भूख-प्यास भी किसी को नहीं लगती है और शोक-मोह भी जहाँ नहीं होता है उस स्वर्गप्राप्ति के साधनभूत अग्निविद्या को आप जानते हैं। श्रद्धावान् मेरे प्रति कृपा करके मुझे अग्निविद्या का उपदेश कीजिए—यही दूसरा वरदान है। इस प्रकार नचिकेता के कहने पर यमराज ने उसे विधिवत् अग्निविद्या बतला कर पुनः उससे तीसरा वरदान माँगने को कहा। तीसरा वरदान माँगता हुआ नचिकेता बोला—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥

मृत मनुष्य के विषय में यह सन्देह होता है कि शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से पृथक् देहादि में सम्बन्ध रखने वाला जो आत्मा है वह

देहान्तर में रहता है या नहीं। कोई कहते हैं—रहता है और कोई कहते हैं—नहीं रहता है।

इस विषय में प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाण से निर्णय नहीं होता और परम पुरुषार्थ इसी विज्ञान के आधीन है। अतः आप से शिक्षित होकर यह विद्या मैं जान सकूँ—यही मेरा तीसरा वरदान है। इस प्रकार तीसरा वरदान सुनकर नचिकेता की योग्यता जानने के लिए यमराज ने अनेक प्रकार—शतायु पुत्र, पौत्र,पशु, हिरण्य और साम्राज्य का प्रलोभन दिया, किन्तु इन सबको अनित्य–विनाशी उसने समझकर त्याग दिया और बोला 'वरस्तु स एव' वर तो मुझे वही चाहिए।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥२।१४

—सामान्यविशेषोपक्रमः

जो धर्म से अन्य है तथा अधर्म से भी अन्य है। तथा कृत अर्थात् कार्य और अकृत—कारण (स्थूल-सूक्ष्म) प्रपञ्च से भी पृथक् है एवं भूत-भविष्य-वर्तमान से भी अन्य है अर्थात् अविच्छिन्न सम्पूर्ण व्यवहार विषयातीत जिस वस्तु को देखते हैं वह मुझसे कहिए।२।१४।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषिकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ।१७।२।६

—उपसंहारः

मनुष्यों के हृदय में स्थित अंगुष्ठमात्र पुरुष उनकी अन्तरात्मा है। उसे इस शरीर से धैर्य से पृथक् करे। जैसे मुञ्ज से उसके भीतर रहने वाली इषिका (सींक) को बाहर करते हैं। उस अंगुष्ठमात्र चिन्मात्र पुरुष को ही विशुद्ध अमृतमय ब्रह्म जानो।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥१५।२।१

समस्त वेद जिसका पदनीय अर्थात् गमनीय स्थान प्रतिपादन करते हैं, सम्पूर्ण तपों को जिसकी प्राप्ति का साधन कहते हैं। जिसके प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचर्य धारण करते हैं। उस पद को जिसे तुम जानना चाहते हो मैं संक्षेप से कहता हूँ—वह पद ओम् ही है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८।३।१

वह आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है। उत्पन्न होने से अनेक विकार—अस्ति, जायते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति इत्यादि विकार होते हैं, अतः आत्मा इन विकारों से रहित है। चैतन्यरूप होने से वह विपश्चित अर्थात् मेधावी है। अजन्मा, नित्य शाश्वत् है और शाश्वत् होने से पुराण है, 'पुराणोऽपि नव एव' अर्थात् शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह नष्ट नहीं होता है।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥२०।२।१

उपरोक्त आत्मा अणु से भी अणु है और महान् से भी महत्तर है। तापर्त्य यह कि संसार में अणु अथवा महान् जो कुछ वस्तु है,वह नित्य प्रकाशस्वरूप आत्मा से ही आत्मवान् होता है। वह सम्पूर्ण जीवों के हृदय में अन्तरात्मा रूप से स्थित है। उस आत्मा को दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान लिङ्ग से तथा निष्काम अर्थात् दृष्ट-अदृष्ट समस्त भोगविषयों से उपरत होकर और धातुः—शरीरधारणात् धातुः मन इन्द्रिय और बुद्धि के प्रसाद से कर्मनिमित्त वृद्धि-क्षयरहित अपने आत्मा के महिमा को देखता—जानता है ॥

अशरीरँ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२१॥

आत्मा स्वरूप से आकाश के समान व्यापक है, अतः वह देव-पितृ-मनुष्यादि शरीर में रहते हुए भी वह अशरीरी है। अनवस्थित—याने

अनित्यों में नित्य है। इस महान् सर्वव्यापक आत्मा को जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता है।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दाँस्पर्शांश्च मैथुनान्।

एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यत एतद्वै तत्।३।१

जिस विज्ञानस्वरूप आत्मा के द्वारा सम्पूर्ण लोक रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुनजनित सुखों को स्पष्टतया जानता है। उस आत्मा से अविज्ञेय इस लोक में क्या रह जाता है। यही वह ब्रह्म है जिसको तुमने पूछा है।

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।।४।१।२

स्वप्नावस्था में तथा जाग्रत अवस्था में जानने योग्य पदार्थ को जिसके द्वारा जानता है, वह महान् विभु ब्रह्म वही आत्मा है—ऐसा साक्षात् अनुभव करके धीर पुरुष शोक नहीं करता है।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ।।५।५।२

कोई भी प्राणी न तो प्राण से जीवित रहता है और न अपान से। ये दोनों प्राण-अपान जिसमें आश्रित हैं ऐसे किसी अन्य से ही वे प्राणी जीवित रहते हैं।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते तस्मिँल्लोकाः श्रिताः
सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत्।।८।५।२

जो प्राणादि के सोने पर भी जागता है तथा अविद्या के योग से अभीष्ट स्त्री आदि भोग्य पदार्थों की रचना करता है वही शुक्र—शुद्ध है, वही ब्रह्म और वही अमृत—अविनाशी कहलाता है। उसी ब्रह्म में सम्पूर्ण लोक आश्रित है। उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता है। वही वह ब्रह्म है, जिसको तुमने पूछा है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उश्व एतद्वै तत् ।।१३।४।२

अंगुष्ठमात्र पुरुष धूमरहित ज्योति के समान भूत-भविष्य और वर्तमान का शास्ता है । वही आज भी, कल भी और भविष्य में भी रहेगा । वही यह ब्रह्म है ।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धश्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।।१५।१

जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप,अव्यय और रसहीन है तथा नित्य और गन्धरहित है, अनादि, अनन्त एवं महत् से भी पर और अचल है, उस आत्मतत्त्व को निचाय्य-अवगम्य जानकर जीव मृत्यु के मुख से छूट जाता है ।

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिश्शाश्वती नेतरेषाम् ।।१३।५।२

जो नित्य—अविनाशियों में नित्यस्वरूप है, चेतनों में चेतन अर्थात् अन्यों को चेतन करने वाले ब्रह्मादि देवों की भी चेतना है तथा एक है । बहुतों की कामनायें पूर्ण करता है । जो विवेकी उस आत्मा को अपने हृदयाकाश में देखते हैं उन्हीं को नित्य शान्ति प्राप्त होती है, दूसरे को नहीं होती ।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः । अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ।१३।६।२

—इत्याद्यभ्यासः ।

यह जो आत्मा है, बुद्धि आदि जिसकी उपाधि है,समस्त कार्यवर्गों में जो अनुस्यूत है उसको अस्ति—"है" इस प्रकार ही उपलब्ध करना चाहिये तथा बुद्धि आदि समस्त उपाधियों से रहित सत्-असत् आदि प्रतीति का अविषय आत्मा को तत्त्वभाव से उपलब्ध करना चाहिए ।

सोपाधिक अस्तित्व और निरुपाधिक तत्त्वभाव इन दोनों में जिसको अस्ति—'है'—इस प्रकार उपलब्ध हो गया, उसका तत्त्वभाव अभिमुख हो जाता है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५।४।२

—अपूर्वता

ब्रह्मस्वरूप उस आत्मतत्त्व की अपूर्वताको सर्वाभासक सूर्य भी नहीं प्रकाशित करता तथा चन्द्रमा और विद्युत् भी प्रकाशित नहीं करते तो स्थूल इस अग्नि की क्या बात है। उसी के प्रकाश से प्रकाशित होकर यह समस्त जगत् भासित हो रहा है।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२।६।२

वह आत्मा न वाणी से, न मन से और न नेत्र से ही प्राप्त किया जा सकता है। इस जगत् का मूल आत्मा ही है। शास्त्रानुसारी श्रद्धालु पुरुष को ही अस्तीति 'है' इस अनुभव से वह प्राप्त होता है। नास्तिक जो कहते हैं कि जगत् का मूल आत्मा नहीं है, उनको यह उपलब्ध नहीं होता।

—अपूर्वता

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥१८।६।२

—फलम्

मृत्यु के द्वारा कही गई ब्रह्मविद्या और साधनभूत सम्पूर्ण योगविधि को प्राप्त कर नचिकेता विरज-धर्माधर्म से रहित होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गया। अन्य भी जो कोई अध्यात्मतत्त्व को जानेगा वह भी ब्रह्मस्वरूप प्राप्त कर लेगा।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥२५।२।१

—स्तुतिरूपोऽर्थवादः

प्रकरण में प्राप्त जिस आत्मा के ब्राह्मण-क्षत्रिय ओदन हैं, यहाँ ब्रह्म उपलक्षण है, अर्थात् सम्पूर्ण प्राणिमात्र जिसका ओदन है और सर्व हर मृत्यु जिसका उपसेचन—घृतादि है, उसको साधनहीन साधारण मनुष्य कैसे जान सकता है ।।

मृत्योः स मृत्युं (मृत्युमाप्नोति) गच्छति य इह नानेव पश्यति ।।११।१ —अर्थवादः

वह जीव मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है, जो नाना रूप से जगत को देखता है ।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।।९।४।२

जिस प्रकार एक ही अग्नि सम्पूर्ण भुवन में प्रविष्ट होकर प्रत्येक दाह्य पदार्थ के अनुरूप हो जाती है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण भूतों के अन्तरात्मा रूप से उनके अनुरूप हो गया है ।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।।११।५।२ —इत्याद्युपपत्तिः

जिस प्रकार सम्पूर्ण लोकों के नेत्र का अनुग्राहक सूर्य नेत्र के बाह्य मूत्र-पुरीषादि अशुचि पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ भी दोषों से लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार समस्त भूतों का अन्तरात्मा भी संसार के दुःखों से दुःखी नहीं होता, क्योंकि वह बाह्य है ।

इति कठोपनिषल्लिङ्गम्

अथ प्रश्नोपनिषद्

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः, शैब्यश्च सत्यकामः, सौर्यायणिः च गार्ग्यः, कौशल्यश्चाश्वलायनो, भार्गवो वैदर्भिः, कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठा परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिपलादमुपसन्नाः ।।१।१ —उपक्रमः

सुकेशा सत्यकाम, शौर्यायणि कौशल्य, कवन्धी और भार्गव—ये ६ ऋषि अपर ब्रह्म की उपासना करने वाले परब्रह्म का अन्वेषण करते हुये, अर्थात् जो नित्य और विज्ञेय है जिसकी प्राप्ति से ही परम श्रेय हो सकता है—ऐसा विचार कर, ये सब कुछ बतला देंगे, यह समझ कर हाथ में समिधा लेकर महर्षि पिप्पलाद के पास गये ।

तान् होवा चैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति ।। —उपसंहारः

उन शिष्यों को वक्ष्यमाण शिक्षा देकर पिप्पलाद ऋषि ने कहा, उस वेद्य परब्रह्म को मैं इतना ही जानता हूँ, इससे पर अन्य कोई वेद्य नहीं है ।।७।६।।

अथ हैनं सत्यकामः पप्रच्छ स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ।।१।५

सत्यकाम ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! मनुष्यों में जो कोई पुरुष यावज्जीवन ओङ्कार का अभिध्यान—अर्थात् इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटा कर तथा एकाग्रचित्त हो मन को ओङ्कार में इस प्रकार लगा देता है कि जिससे आत्मप्रत्यय सन्तति का विच्छेद न हो और सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह, त्याग, संन्यास, शौच और निष्कपट आदि यम-नियमों से सम्पन्न हो तो उसे कौन-सा लोक प्राप्त होगा । तात्पर्य यह कि ज्ञान और कर्म से प्राप्त होने योग्य अनेक लोकों में उसे कौन लोक प्राप्त होगा ? ।

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥२।५

महर्षि पिप्पलाद ने कहा—हे सत्यकाम ! ओङ्कार के स्वरूप-चिन्तन से ही पर सत्य अक्षर अथवा अपर पुरुषसंज्ञक प्रथम विकारी प्राण हिरण्यगर्भ—इन दोनों में से एक प्राप्त हो जाता है।

तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥७।५ —इत्याद्यभ्यासः

ओङ्कार के अवलम्बन के द्वारा ही विद्वान् शान्त, अजर, अमर और अभय तथा सबसे पर-श्रेष्ठ लोक को प्राप्त करता है।

तस्मै स होवाच इहैवान्तःशरीरे सौम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति ॥२।६ —अपूर्वता

आचार्य पिप्पलाद बोले, हे सौम्य ! इस शरीर के भीतर ही जिसमें षोडश कला का प्रादुर्भाव हुआ है, वह षोडश कलायुक्त पुरुष विद्यमान है।

स प्राणमसृजत् प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु नाम च ॥४।६ —अपूर्वता

उस पुरुष ने प्राण को रचा, प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन तथा अन्न; अन्न से वीर्य, तप, मंत्र, कर्म, लोक और नाम को उत्पन्न किया ॥

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥ ६।६ —फलम्

जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में अरायें प्रविष्ट रहती हैं, उसी प्रकार पुरुष में प्राणादि कलायें अपनी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के समय स्थित रहती हैं। कलाओं के आत्मभूत उस ज्ञातव्य पुरुष को जानो, जिससे तुमको मृत्यु की व्यथा न होवे ॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वो भवति ॥१०।४ —स्तुतिरूपोऽर्थवादः ।

सम्पूर्ण एषणाओं से छूटा हुआ जो अधिकारी उस अच्छाय-तमोहीन अशरीर अलोहितादि गुणों से रहित शुभ्र, अक्षर ब्रह्म को जानता है, वह परम अक्षर को ही प्राप्त हो जाता है तथा सर्वज्ञ और सर्वरूप हो जाता है ।

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नाम-रूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति ॥५।६ —इत्युपपत्तिः

जिस प्रकार निरन्तर प्रवाह रूप से बहने वाला समुद्र ही जिनका अयन–गति है ऐसी समुद्रायण नदियाँ समुद्र को प्राप्त कर अस्त हो जाती हैं और उनके नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं,वे नदियाँ भी समुद्र ही कहलाने लग जाती है । इसी प्रकार सर्वद्रष्टा की ये षोडश कलायें, जिनका अयन वह पुरुष ही है, वे पुरुषायण उस पुरुष को प्राप्त होकर उनके प्राणादि नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं और वे पुरुष ही कहलाते हैं । जो पुरुष इस तत्त्व को जानता है, उसका अविद्यादि कामकर्मजनित प्राणादि कलायें प्रविलापन हो जाते हैं तथा वह निष्कल, कलाहीन और अमृत हो जाता है ॥

इति प्रश्नोपनिषद् ।

अथ मुण्डकोपनिषद्

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ । कस्मिन्नु खलु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥३।१

तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥४

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदो सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५।१।

यत्तदद्रृश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६।१। —इत्युपक्रमः

शौनक जी ने महर्षि अङ्गिरा के पास विधिवत् जाकर पूछा कि हे भगवन् ! किस वस्तु के जानने से समस्त विज्ञेय पदार्थ का ज्ञान हो जाता है ॥३।१॥

इसके उत्तर में महर्षि अङ्गिरा ने कहा कि ब्रह्मविद्—परमार्थ-दर्शी कहते है कि दो विद्यायें जाननी चाहिए। एक परा-परमात्म विद्या और दूसरी अपरा—धर्माधर्म के साधन और उनकी फल-विषयक विद्या ॥४॥

उनमें ऋग्, यजु, साम, अथर्व, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—यह साङ्गवेद अपरा विद्या कहलाती है और जिससे अक्षर परमात्मा का ज्ञान हो, वह परा विद्या कही जाती है ॥५॥

वह अक्षर क्या है ? इस प्रश्न पर वे बोले—जो अदृश्य–इन्द्रियों का अविषय है,क्योंकि ज्ञानेन्द्रिय बाह्य वृत्ति वाले होने से अन्तर दृष्टिरहित है। अग्राह्य—कर्मेन्द्रियों के भी अविषय,अगोत्र—मूलरहित है, अवर्ण-शुक्लादि वर्णहीन है एवं चक्षु-श्रोत्रादिरहित तथा पाणिपादादिवर्जित नित्य- विभु, सर्वगत, अनन्त सूक्ष्म, और अव्यय है, सम्पूर्ण भूतों का कारण है और धीर लोग उसे ही सर्वत्र देखते है।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्या-ब्रह्मवित्कुले भवति तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रंथिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥९।३।२ —इत्युपसंहारः

जो कोई उस परब्रह्म (अहमेव ब्रह्माऽस्मि) को जानता है, वह ब्रह्म हो जाता है। उसके कुल में अब्रह्मवित् कोई नहीं होता। वह शोक से तर जाता है तथा पापरहित हो जाता है और हृदयग्रन्थि से मुक्त होकर अमृत हो जाता है।

आविः सन्निहित गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्। एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्य-द्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥१।२।२

वह परब्रह्म, जिसका प्रकरण चल रहा है—आविः—प्रकाशस्वरूप है, सन्निहितं—वागादि उपाधियों के द्वारा प्रकाशित होता है। प्राणियों के हृदय में श्रवण, मनन और विज्ञानादि धर्मों से उपलक्षित होता है, गुहाचरं—बुद्धिरूप गुहा में संचार करता है, महत्पदं—सबसे बड़ा होने से महत्पद है,सर्वेण पद्यते—सबसे प्राप्त किया जाता है, क्योंकि वह सर्वपदार्थों का आस्पद होता है अथवा समस्त पदार्थों का आश्रय है इसलिये भी महत्पद है। एजत्—चलने वाले, प्राणत्—प्राणन क्रिया करने वाले मनुष्यादि निमिषद्—निमेष क्रिया करने वाले और 'च' शब्द से निमेषादि क्रिया नहीं करने वाले देवादि समस्त दृश्य जगत् इसी ब्रह्म में समर्पित है,जिस प्रकार रथ की नाभि में आरे समर्पित होते हैं। तुम इस सदसत् स्वरूप जो सबसे श्रेष्ठ, वरेण्य—प्रजाओं के विज्ञान से परे और सर्वोत्कृष्ट है, उसे जानो।

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिल्लोका निहिता लोकिनश्च। तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः। तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥२।२।२

वह ब्रह्म दीप्तिमान् है, अणु से भी अणु है,'च' शब्द से स्थूल से भी स्थूल है, जिसमें भूर्भुवादि सम्पूर्ण लोक और लोकवासी जन स्थित हैं, वही अक्षर ब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाक् और मन है, वही सत्य और अमृत है,वह वेद्धव्य है, उसी में मन को लगाना चाहिये। अतः हे सौम्य ! उस अक्षर में मन को विद्धि—लगाओ॥

ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥६।२।२

उस आत्मा का ओङ्कार रूप से अवलम्बन बना कर ध्यान करो। अविद्यारूप तम—अन्धकार को पार करने या होने में तुम्हारा कल्याण होवे। इस प्रकार आचार्य शिष्य को आशीर्वाद करता है।

यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्यैष महिमा भुवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः॥ मनोमयः प्राण-शरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय। तद्विज्ञानेन परि-पश्यन्ति धीराः आनन्दरूपं अमृतं यद्विभाति॥७।२।२

प्रकरण में जिस आत्मा को तम से पार कहा गया है। संसार महोदधि तर कर जो गन्तव्य है तथा जो पर विद्या का विषय है। जो सर्वज्ञ-सामान्य रूप से समस्त प्राणियों को जानता है तथा सर्वविद्—विशेष रूप से भी प्रत्येक प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों का ज्ञाता है। जिसकी यह महिमा लोक में प्रसिद्ध है, वह महिमा किस प्रकार की है?

यस्येमे द्यावापृथिव्यौ शासने विधृते तिष्ठतः। सूर्या-चन्द्रमसौ यस्य शासनेऽलातचक्रवत् अजस्रं भ्रमतः। यस्य शासने सरितः सागराश्च स्वगोचरं नातिक्रमन्ति। स्थावरं जङ्गमं यस्य शासने नियतम्। तथा ऋतवोऽयने अब्दाश्च यस्य शासनं नातिक्रमन्ति। तथा कर्ता कर्माणि फलं च यच्छा-सनात्स्वं स्वं कालं नातिक्रमन्ति स एष महिमा भुवि।

जिसके शासन में द्यौ और पृथिवी स्थित हैं; सूर्य-चन्द्रमा अहर्निश अलात-चक्र के समान निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं; नदियां, समुद्र अपने-अपने मार्ग का उल्लंघन नहीं करते; जिसके शासन को स्थावर, जंगम, ऋतु, अयन, अब्द, कर्ता, कर्म और काल अतिक्रमण नहीं करते, यही उसकी महिमा है। अब प्रश्न होता है कि 'कस्मिन्वर्तते? जो सर्वज्ञ सर्वविद् जिसकी यह महिमा है, वह किसमें है? इसका उत्तर श्रुति देती है 'दिव्ये ब्रह्मपुरे'। दिव्य समस्त बौद्धविषयों के प्रकाशक हृदय पुण्डरीक के मध्य में स्थित आकाश में प्रतिष्ठित के समान वह उपलब्ध होता है। वही आत्मा है। वह मनोमय और प्राणमय कोश का नेता है। (स्थूल) देह से दूसरे सूक्ष्म देह में ले जाने वाला है।

बुद्धिरूप हृदयाकाश का आश्रय ग्रहण करके अन्नमय स्थूल शरीर में भी वह स्थित है। विवेकी पुरुष शास्त्र और आचार्य के उपदेश से शम-दमादि साधन-सम्पन्न होकर विशेष ज्ञान से उस आत्मतत्त्व को, जो अन्तःकरण में आनन्दरूप अमृतमय भासता है, उसको सर्वत्र परिपूर्ण रूप से देखते हैं।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥९।२।२

हिरण्मय—ज्योतिर्मय बुद्धि-वृत्ति से प्रकाशित हृदयाकाश में विरजं—मलरहित, निष्कलं (निर्गता कला यस्मात् तं),शुद्ध ज्योतियों के भी ज्योति ब्रह्म विराजमान हैं, जिसको आत्मविद् अर्थात् जो अपने को शब्दादि विषय और समस्त बुद्धि-प्रत्यय के साक्षी मानते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्म को जानते हैं।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१०।२।२

स्वयंप्रकाशस्वरूप उस ब्रह्म—परमेश्वर के प्रकाश से ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११।२।२

—इत्याद्यभ्यासः

अविद्यामयी दृष्टि वालों के सामने जो जगत् रूप से दिखाई दे रहा है। पूर्वोक्त लक्षण से लक्षित ब्रह्म ही है, जो अमृतस्वरूप है। आगे ब्रह्म, पीछे भी ब्रह्म, दायीं-बायीं ओर भी ब्रह्म एवं नीचे-ऊपर भी फैला हुआ ब्रह्म ही है। जिसे नामरूप वाचारम्भण माना गया है। ब्रह्म से भिन्न की प्रतीति रज्जु में सर्प के समान अविद्या-मात्र है। परमार्थ तो एकमात्र सत्य ब्रह्म है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥८।१।१।

—अपूर्वता

उपरोक्त आत्मा को अरूप होने से नेत्र से ग्रहण नहीं किया जा सकता एवं अवाच्य होने से वह वाणी का भी विषय नहीं है तथा अन्य इन्द्रियों का भी विषय नहीं है, तप और कर्म से भी वह ग्राह्य नहीं होता। केवल ज्ञान प्रसाद—प्रसन्न बुद्धि से शुद्ध-चित्त योगियों को ध्यान में ही निष्कल उस आत्मतत्त्व का साक्षात् दर्शन होता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥८।२।२

—फलम्

हृदय-ग्रन्थि (कामाद्यस्य हृदि स्थिता) बुद्धि में स्थित काम अर्थात् अविद्यामय वासना का उस आत्मतत्त्व के दर्शन से नाश हो जाता है। यही हृदय-ग्रन्थि का टूटना है एवं तत्त्वविषयक सारा संदेह अर्थात् आत्मा देह से भिन्न है या नहीं, यदि भिन्न है तो आत्मा और परमात्मा में अभेद है कि नहीं, यदि अभेद है तो उसकी प्राप्ति कर्म से या ज्ञान से होती है—यह संशय दूर हो जाता है और संचित तथा आगामी कर्म भी नष्ट हो जाते हैं ॥

यं य लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्। तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेत् भूतिकामः ॥३।१

—अर्थवादः

विशुद्धसत्त्व आत्मवेत्ता अपने या अन्य के लिए जिन-जिन लोकों का संकल्प करता है तथा जिन भोगों की कामना करता है, उन-उन लोक और भोगों को वह प्राप्त कर लेता है; अतः ऐश्वर्य की कामना करने वाले प्रत्येक पुरुष को आत्मतत्त्वज्ञों का पूजन करना चाहिए।

यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावा प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥२।१

—उपपत्तिः

जिस प्रकार अच्छी तरह प्रज्ज्वलित हुई अग्नि से उसी के ही रूपवाले सहस्रों विस्फुलिङ्ग उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार—पर अक्षर ब्रह्म से अनेक प्रकार के जीव प्रकट होते हैं और वे पुनः उसी में विलीन हो जाते हैं ॥२।१

इति मुण्डकपनिषद्

—००००—

अथ माण्डूक्योपनिषद्

ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ।।१।। —उपक्रमः

ॐ अक्षर ही यह सब है, जो कुछ अभिधेय—वाच्यभूत पदार्थसमूह अर्थात् रूप है तथा अभिधान—वाचक यानी नाम है—यह सब ओंकार ही है। तात्पर्य यह कि रूप और नाम में भेद नहीं होता, अतः अभिन्न होने से यह सब नामरूपात्मक जगत् ओंकारस्वरूप ब्रह्म ही है। यह जो परापर ब्रह्मस्वरूप ओंकार अक्षर है, उसी का उपव्याख्यान अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय होने से उसके सामीप्य से विस्पष्ट कथन प्रस्तुत किया गया है, यह समझना चाहिए। भूत, भविष्यत् और वर्तमान, जो कुछ कालत्रय से परिच्छिन्न है, वह ॐकार ही है तथा जो त्रिकालातीत है, कार्य से ही विदित होता है, स्वयं कालापरिच्छेद्य अव्याकृतादि है, वह भी ओंकार ही है।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एव वेद ।।१२।। —उपसंहारः

प्रकरण से प्राप्त ब्रह्म अमात्र—मात्रारहित है, चतुर्थ—तुरीय केवल आत्मा ही है। अव्यवहार्य—अभिधानाभिधेय यानी नाम-रूप से रहित होने के कारण वाणी और मन का अविषय है, अतः अव्यवहार्य है, प्रपञ्चोपशम—प्रपञ्च का निषेधावधि है, शिव—मङ्गलरूप एवं अद्वैत है, इस तरह ओंकार ही आत्मा है। जो इस प्रकार उसकी उपासना करता है, वह परमार्थदर्शी अपनी आत्मा में प्रवेश कर जाता है।।

प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ।।७।। —अभ्यासः

प्रपञ्चोपशम, शान्त, शिव एवं अद्वैत है, वही आत्मा है, वही जानने योग्य है; (अर्थ ऊपर स्पष्ट है)।

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारमित्यादि ॥७॥ —अपूर्वता

वह आत्मा अदृष्ट है, अदृष्ट होने से अव्यवहार्य है, इन्द्रियों का अविषय होने से अग्राह्य है, अलक्षण—लिङ्गरहित है, इसी से अचिन्त्य है, अचिन्त्य होने से शब्दों के द्वारा अव्यपदेश्य है। एकात्मप्रत्ययसार अर्थात् जाग्रदादि अवस्थाओं में एक ही है ॥

संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद ॥१२॥ —फलम्

मात्रा-रहित ओंकार आत्मा ही है, इस प्रकार जो जानता है वह परमार्थदर्शी स्वतः परमार्थ आत्मा में प्रवेश कर जाता है ॥१२॥

आप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९॥ —स्तुतिपरार्थवादः

जो ओंकारस्वरूप ब्रह्म की उपासना करता है, वह समस्त कामनाओं को प्राप्त करता है और श्रेष्ठ पुरुषों में आदिमान् अर्थात् प्रधान होता है।

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥८॥ —उपपत्तिः

यह आत्मा अध्यक्षर है—जिस अक्षर का अवलम्बन कर अभिधान की प्रधानता से आत्मा का वर्णन किया है, वह अक्षर ओंकार है। वह पादरूप से अधिमात्र है अर्थात् मात्रा का आश्रय ग्रहण करके वर्तमान है; क्योंकि जो आत्मा में पाद है, वही ओंकार की मात्रायें हैं, अतः जो पाद है, वही मात्रा है और जो मात्रा है, वही पाद है—वह मात्रा अकार, उकार, और मकार है।

इति माण्डूक्योपनिषद्

———

अथ तैत्तरीयोपनिषद्

ब्रह्मविदाप्नोति परम् ।२।१ —इत्युपक्रम

ब्रह्मविद्—वृहत्तम होने से ब्रह्म कहलाता है, उसको जो जानता है, वह ब्रह्मविद् है। वह ब्रह्मविद् पर—निरतिशय ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः ।३।१०।।

—उपसंहारः

जो आकाशादि अन्नमय पर्यन्त कार्यों की रचना करके उसमें प्रविष्ट हुआ, वही इस पुरुष में परमाकाश हृदयाकाश के भीतर बुद्धि-रूप गुहा का आश्रयण करके स्थित है और जो आदित्य में परमानन्द-स्वरूप पुरुष है, वह एक ही है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।२।१

ब्रह्म सत्य है, ज्ञानस्वरूप है और अनन्त है। यह सत्यादि शब्द परार्थ होने से परस्पर सम्बन्धित नहीं है। सत्य यानी जो पदार्थ जिस रूप से निश्चित है, उस रूप से त्रिकाल में भी व्यभिचरित न हो। वही सत्य शब्द से वाच्य होता है। सत्य ही कारण होता है,कार्य अनित्य होता है। जैसे घटादि कार्य अनित्य हैं, मृत्तिका कारण होने से नित्य सत्य है—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'। ब्रह्म को सत्य-कारणरूप स्वीकार करने पर उसमें मृद्वत् अचिद्रूपता--जड़ता न आ जाय, अतः श्रुति 'ज्ञानं ब्रह्म' कहती है अर्थात् ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है। 'ज्ञान' कहने पर जडता की शंका तो निवृत्त हो जाती है, किन्तु 'ज्ञानं ब्रह्म' कहने पर ब्रह्म को अन्तवत्त्व प्राप्त होता है, क्योंकि लौकिक सभी ज्ञान अन्तवत् ही देखे जाते हैं, तन्निवृत्त्यर्थ उसे श्रुति अनन्त कहती है।

तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी ।२।१

जिस ब्रह्म को पहले 'ब्रह्मविदाप्नोति परं' इस वाक्य से सूत्रित किया गया है, उसी का विस्तार से निर्णय करने के लिये ग्रन्थ आरंभ करते हैं—**तस्मादित्यादि**। आत्मशब्द का वाच्य ब्रह्म है 'आत्मा हि तत्सर्वस्य' 'तत्सत्यं स आत्मा' इत्यादि श्रुतियों से वह ब्रह्म ही सबका आत्मा है। अतः 'तस्मादेतस्माद्ब्रह्मणः आत्मस्वरूपादाकाशः' ब्रह्मात्मस्वरूप से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न, अन्न से पुरुष, वही यह अन्नरसमय पुरुष है।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते ॥२।७

जिस काल में साधक अदृश्य—अविकारी, विकारी वस्तु ही दृश्य होता है। ब्रह्म अविकारी होने से अदृश्य है एवं अनात्म्य—अशरीर, लोकदृष्टि से शरीर को ही आत्मा कहते हैं, किन्तु आत्मा अशरीरी है, इस प्रकार तह अनात्म्य है। अतः अनात्म्य होने से भी वह अदृश्य है तथा अनात्म्य होने से अनिरुक्त है, विशेष का ही निरूपण होता है, आत्मा गुण-जात्यादि धर्मों से रहित होने से निर्विशेष है, अतः अनिरुक्त है और अनिलयन—निलय—नीड अथवा आश्रय, जिसका आश्रय नहीं है, वह अनिलयन है। ब्रह्म सबका आश्रय है, किन्तु स्वयं निराश्रय है। वह सबका कारण है, किन्तु उसका कोई कारण नहीं है। जो सवका आश्रय और सबका कारण होता है, वह स्वयं निराश्रय और अकारण होता है। तात्पर्य यह कि अदृश्य, अनात्म्य, अनिरुक्त और अनिलयन—इस लक्षणलक्षित ब्रह्म में साधक जब आत्मभाव से स्थित होता है, तब अभय हो जाता है।

भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥२।८

ब्रह्म परमात्मा के भय से ही वायु चलता है, इसी के भय से ठीक समय पर सूर्य उदित होता है एवं इसी के भय से अग्नि, इन्द्र और मृत्यु दौड़ते रहते हैं।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ।२।९

स्वगत सजातीय-विजातीय भेदरहित अद्वय आनन्दस्वरूप का ज्ञाता, विद्वान् कभी किसी से भय नहीं करता है ।।२।६।

असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मानं स्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यते इति । यद्वैतत् सुकृतं रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।।२।७　　इत्याद्यभ्यासः

असत् शब्द का अर्थ है—जिनके नाम-रूप व्यक्त हो गये हैं, उनसे विपरीत रूप वाला अव्याकृत ब्रह्म । उस असत् शब्दवाच्य ब्रह्म ने स्वयं अपने को रचा 'यस्मादेवं तस्मात् ब्रह्मैव सुकृतं' इसलिए ब्रह्म ही सुकृत है । वह जो सुकृत है वह रस ही है । रस का अर्थ तृप्ति का हेतु आनन्दकर पदार्थ लोक में प्रसिद्ध ही है । रस को प्राप्त करके ही प्राणी आनन्दित होता है । वाह्य साधनरहित होने पर भी निरीह, एषणारहित विद्वान् वाह्य रस के लाभ से आनन्दित के समान ही आनन्दयुक्त देखे जाते हैं ।

वह परमानन्दस्वरूप ब्रह्म यदि आकाश—परमाकाश हृदयरूपी गुहाकाश में नहीं होता, तो कौन व्यक्ति प्राणन, अपानन क्रिया करता ? तात्पर्य यह कि जडपिण्ड शरीर में प्राणन-अपानन क्रिया हो रही है, अतः ब्रह्म की सत्ता अवश्य है, यह जानना चाहिए ।

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।२।९

—अपूर्वता

सविकल्प वस्तुओं का प्रकाश करने में समर्थ वाक् का प्रयोग प्रयोक्ताओं द्वारा निर्विकल्प अद्वैत ब्रह्म का निर्देश करने में किया जाता है, किन्तु उसको प्रकाश किये बिना ही लौट आती है—'अप्राप्य मनसा सह' । 'मनः' शब्द विज्ञान का वाचक है । जहाँ विज्ञान होता है, वहाँ वाणी की प्रवृत्ति होती है अर्थात् मन और वाणी साथ ही प्रवृत्त होते हैं । परन्तु ब्रह्म को मनसहित वाणी भी विना प्राप्त किये लौट आती है ।

सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।२।१

ब्रह्मभूत विद्वान् ब्रह्मस्वरूप से ही समस्त वासनाओं को भोगता है ।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति ।७।२ —अर्थवादः

साधक जिस काल में 'आत्मैवेदं सर्वम्' ऐसा जानता है, उस काल में अभय हो जाता है—ऐसा पहले कहा गया है, किन्तु जिस काल में आत्मा में अविद्या से प्रत्युपस्थित किञ्चित् 'अरम्' अल्पमात्र भी भेद देखता है, तब उसको भय होता है ॥

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्म ।।३।१

जिससे यह अचर-चर जीव उत्पन्न होते हैं तथा उत्पन्न होकर जीते हैं और प्रलय काल में सभी जीव जिसमें प्रवेश कर जाते हैं, उसी को जानो; वही ब्रह्म है ।

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयं चानिलयं च विज्ञानञ्चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् यदिदं किञ्च ।।२।६ —उपपत्तिः

यह जो कुछ दृश्य जगत् है, इसे रच कर वह स्वरचित जगत् में अनुप्रविष्ट हो गया । प्रवेश करके सत्—मूर्त, त्यच्च माने अमूर्त, निरुक्त अर्थात् अनिरुक्त एवं निलयन तथा अनिलयन भी वही हो गया । विज्ञान—चेतन, अविज्ञान—अचेतन-जड़ और व्यावहारिक सत्य एवं अनृत मृग-तृष्णादि भी वही बना । तात्पर्य यह कि यह जो कुछ जगत् है, वह सब परब्रह्म का ही स्वरूप है ।

इति तैत्तिरीयः

अथ ऐतरेयोपनिषद्

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥१।१।१ —उपक्रमः

आत्मा यह शब्द आप्लृ व्याप्तौ, अद्भक्षणे, अत सातत्यगमने धातु से निष्पन्न होता है। "यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।" यह जो नामरूपात्मक जगत् देखा जाता है, वह सृष्टि होने से पहले सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अशनाया-पिपासादि सम्पूर्ण संसारधर्मरहित, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव, अज, अजर, अमर, अमृत, अभय और अद्वयस्वरूप आत्मा ही था। उसके अतिरिक्त अन्य कोई मिषद् अर्थात् व्यापारवान् अथवा अव्यापारवान् किसी तरह की वस्तु नहीं थी, एकमात्र आत्मा ही था। उसने ईक्षण—विचार किया कि लोकों को रचना करूँ।

सर्वं प्रज्ञानेत्रम्। प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥३।१।३ — उपसंहारः

यह समस्त स्थावर-जंगमात्मक जगत् प्रज्ञानेत्र है, 'प्रज्ञा प्रज्ञप्तिः तच्च ब्रह्मैव' प्रज्ञा का अर्थ है—प्रज्ञप्ति, वह ब्रह्म ही है। जिससे नयन अर्थात् ले जाया जाय, उसे नेत्र कहते हैं—नीयतेऽनेनेति नेत्रम्। प्रज्ञा नेत्रं यस्य, प्रज्ञा ही जिसका नेत्र है, वह प्रज्ञानेत्र है। 'प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्' प्रज्ञान ब्रह्म में उत्पत्ति, स्थिति और लय-काल में समस्त जगत् प्रतिष्ठित है, अतः प्रज्ञानेत्रो लोकः। प्रज्ञा चक्षु को भी कहते हैं, यह लोक प्रज्ञारूप नेत्र वाला है, इसीलिए प्रज्ञान ही ब्रह्म है।

स इमांल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥१।१।२

प्रकृत ब्रह्मात्मा ने इन लोकों की रचना की। (**कांल्लोकान्**) यानी किन लोकों की ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रुति कहती है—अम्भ,

मरीचि, मर और आप। अम्भ शब्द से प्रतिपादित लोक द्युलोक से पर है, (**अम्भो भरणात्**) अम्भ-मेघ को धारण करने से अम्भ कहलाता है। उस अम्भ-लोक की प्रतिष्ठा (आश्रय) है—द्युलोक। द्युलोक से नीचे जो अन्तरिक्ष है, वह मरिचि लोक है। पृथ्वी मर-लोक है (**म्रियन्तेऽस्मिन्भूतानि**) और जो पृथ्वी से नीचे है, वह आपलोक कहलाता है।

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति।१।१।१

उस परमात्मा ने पुनः ईक्षण अर्थात् संकल्प किया कि लोकरचना के बाद मैं लोकपालों की रचना करूँ।

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षता यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपनितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥१।३।११

लोक और लोकपालों की रचना कर उस परमात्मा ने विचार किया कि यह कार्यकरण-भूतेन्द्रियसंघात होने से परार्थ है। मेरे बिना अर्थात् स्वामी के बिना यह कैसे रहेगा? मैं इस संघात में कैसे प्रवेश करूँ? मुझ स्वामी के बिना परार्थ यह समूह यदि वाणी से व्याहृत हो, प्राणन से प्राणित हो, यदि चक्षु से देखे, श्रोत्र से सुने, त्वक् से स्पर्श करे, मन से ध्यान करे, अपान से अपानन करे, शिश्न से त्याग करे तो पुरस्वामी के बिना यह सब व्यर्थ होगा और मैं कौन हूँ, मेरा क्या स्वरूप है, मैं किसका स्वामी होउँगा? मैं यदि कार्यकरण-संघात में प्रवेश न करूँ, तो कृताकृत पुरुष का निर्माण निष्फल होगा, ऐसा विचार कर।

एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः; अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥१।३।१२

वह सृष्टिकर्ता परमात्मा मूर्ध सीमा को विदीर्ण कर उसी मार्ग से कार्यकरणसंघात में अर्थात् शरीर में प्रवेश कर गया।

वह परमात्मा मूर्धसीमा विदीर्ण कर उसी के द्वारा प्रविष्ट हुआ। अतः विदारण करने इसका नाम विदृति है।

जिस परमात्मा ने शरीर-रचना कर उसमें जीवरूप से पुर में राजा के सदृश प्रवेश किया, उसके तीन आवसथ हैं। जाग्रत काल में दक्षिण नेत्र में प्रथम आवसथ, स्वप्नकाल में अन्तःमन में दूसरा आवसथ और तीसरा सुषुप्ति काल में हृदय में अथवा पितृशरीर, मातृगर्भाशय और अपना शरीर—ये तीन। कोई कहते हैं कि जाग्रत अवस्था तो प्रबोधावस्था है, फिर स्वप्न कैसे होगा ? इसका समाधान करते हुये उपनिषद् कहता है कि स्वात्मबोध के अभाव में जाग्रत् भी स्वप्न ही है।

तस्मादिदन्द्रो नामेन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥१।३।१४ —इत्यभ्यासः

वह परमात्मा इदन्द्र—इस नाम से प्रसिद्ध है। इदन्द्र—इस नाम से प्रसिद्ध भी परमात्मा को ब्रह्मविद् इन्द्र इस परोक्ष नाम से व्यवहार करते हैं, क्योंकि देवता परोक्ष-प्रिय होते हैं।

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत इदमदर्शमिती ॥१।३।१३

स—उस प्रकृत परमात्मा ने (**जातः शरीरप्रविष्टो जीवात्मना**) जीवरूप से प्रवेश करके भूतों को व्याकृत अर्थात् उन्हें तादात्म्य रूप से ग्रहण किया। जब परम कारुणिक आचार्य के द्वारा आत्मज्ञान के बोधक वेदान्तवाक्यरूपी भेरी का शब्द कर्णमूल में बजाया गया, तब वह पुरुष पुर—शरीर में सोने वाला आत्मा परिपूर्ण आकाशवत् ब्रह्म—स्वरूप से जाना, **किमिहान्यं वावदिषदिति, 'अस्मिन् शरीरे अन्यं व्यतिरिक्तमात्मानं वावदिषत् इति काक्वा नोक्तवानित्यर्थः न ज्ञातवान् इत्यपि द्रष्टव्यम्'** इस शरीर में मुझसे भिन्न कौन है—अर्थात् आत्मा से भिन्न दूसरा कुछ नहीं है, यह जाना।

सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा ॥३।१।३

—अपूर्वता

समस्त प्राणि प्रज्ञानेत्र हैं, और प्रज्ञान में यानी निरुपाधि चैतन्य में स्थित हैं। लोक भी प्रज्ञारूप नेत्र वाला है। सम्पूर्ण जगत् का आश्रय प्रज्ञा ही है, अतः प्रज्ञा ही ब्रह्म है।

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत् ॥३।१।४

—फलम्

प्रसिद्ध वामदेव नामक ऋषि इस चेतनात्मस्वरूप से ही इस लोक से उत्क्रमण कर इन्द्रियातीत स्वर्ग में सम्पूर्ण कामनाएँ प्राप्त कर अमर-अमृतस्वरूप हो गया।

ता एता देवता सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्यामन्वार्जत्। ता एनमब्रुवन् नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥१।२।१

प्रकृत परमात्मा द्वारा लोकपालरूप से रचे गये इन्द्रियाभिमानी अग्न्यादि देवता महान् संसारार्णव-अर्थात् अविद्या, काम, कर्म से उत्पन्न अनेक जन्म-ज्वरादि दुःखरूप जिसमें जल है तथा जरा-मृत्यु रूप ग्राहों से पूर्ण अनादि अनन्त अपार समुद्र में गिराये गये। समुद्र में पतित उनको क्षुधा और पिपासा से युक्त कर दिया। भूख और प्यास से पीड़ित इन देवताओं ने अपने रचयिता परमात्मा से कहा कि हम लोगों के लिये आयतन—आश्रय-स्थान की व्यवस्था करें, जिसमें स्थित होकर हम अन्न-भक्षण करें।

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति। गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥२।१।५

—अर्थवादः

सभी प्राणी जन्म-मरणरूप से संसार-समुद्र के प्रवाह में पड़े हुए हैं। किसी प्रकार वह श्रुत्युक्त आत्मा को यदि जान जाता है, तो जिस किसी अवस्था में हो, किन्तु संसारसमुद्र से मुक्त होकर कृतकृत्य हो जाता है। इसी बात को ऋषि ने इस मन्त्र से कहा है। गर्भ में ही ऋषि वामदेव ने कहा—अनेक जन्मान्तरों की भावनाओं के परिपाकवश इन वाक् एवं अग्न्यादि देवताओं के सम्पूर्ण जन्मों का ज्ञान मुझे प्राप्त हो गया है। आत्मबोध होने के पूर्व मैं लोहमय पुर के समान सुदृढ़ सैकड़ों अभेद्य पुररूपी शरीरों से रक्षित था। जाल काट कर वेग से उड़ने वाले श्येन पक्षी के समान मैं आत्मज्ञान से प्राप्त सामर्थ्य से उससे बाहर निकल गया हूँ। गर्भ में शयन करते हुए वामदेव ने कहा।

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत् ॥

वह परमात्मा मूर्धसीमा को विदीर्ण करके उसी के द्वारा प्रविष्ट हुआ। इस तैत्तरीय उपनिषद का तात्पर्य यह है कि **'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्य किञ्चन मिषत्**। इस वाक्य से ब्रह्म का लक्षण-कथन करके **"स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति"** इससे आरम्भ करके **'तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः, अयमावसथोऽयमावसथ इति'** इससे परमात्मा में जगत् अध्यारोपण प्रकार कथन किया और **'स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति'** इस मन्त्र से अध्यारोप का अपवाद करके **"स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शम्"** इससे प्रत्यगात्मा के कथन द्वारा ब्रह्म का स्वरूप कहा। तत्पश्चात् **पुरुषो ह वा** इत्यादि मन्त्र से गर्भवासादि दुःख वर्णन करके तत्त्वं पदार्थशोधनपूर्वक **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** अर्थात् प्रज्ञानस्वरूप आत्मा ही ब्रह्म है, यह स्पष्ट रूप से ब्रह्मात्मैकत्व का वर्णन किया गया है।

इति ऐतरेयः।

●

अथ षष्ठोऽध्यायः

अथ छान्दोग्योपनिषद्

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥१।२।६

—उपक्रमः

सदेव—'सत्' यह शब्द अस्तित्वमात्र का बोधक है, जो सूक्ष्म निर्विशेष, सर्वगत, एक निरंजन, निरवयव और विज्ञानस्वरूप है और वेदान्तों से जाना जाता है। एव शब्द निश्चयार्थक है। इससे यह निश्चय होता है कि इदं अर्थात् यह जो नामरूपात्मक क्रियावान् विकारी जगत् उपलब्ध हो रहा है, वह सत् ही था। आसीत् से सत् का सम्बन्ध है।

ऐतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्धास्य विजिज्ञाविति विजज्ञाविति ॥६।१६।३

—उपसंहारः

जिस आत्मा के ज्ञान से मोक्ष और अज्ञान से बन्धन होता है, जो संसार का मूल एवं समस्त प्रजाओं का आधार है, जिसमें समस्त प्रजा प्रतिष्ठित है, यदात्मक ही यह सारा जगत् है, जो अज, अमृत, अभय, शिव और अद्वितीय है, वही सत्य है और वह आत्मा है, अतः हे श्वेतकेतो !तुम वही थे।

यहाँ त्वं शब्द का वाच्य वह श्वेतकेतु है जो उद्दालक का पुत्र अपने को जानता था,जिसने पिता के उस आदेश को—'तमादेशंप्राक्ष' येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमित्यादि।'—इसको सुनकर श्वेतकेतु ने पूछा कि 'कथंनुभगवः स आदेशो भवति' वह आदेश किस प्रकार है ? श्रोता, मन्ता विज्ञाता अधिकारी उसने उपदेश सुना और विचार किया। उपदेश सुनने के पूर्व देह, इन्द्रियों से भिन्न सत्स्वरूप आत्मा अपने को नहीं जानता था, अनन्तर तुम वही हो—इस प्रकार दृष्टान्त एवं हेतुपूर्वक पिता का उपदेश सुनकर तेज, अप, अन्नमय कार्यकारण-रूप देहेन्द्रिय संघात में नामरूप की अभिव्यक्ति करने के लिये पर देवता

ही प्रविष्ट है। दर्पण में प्रतिफलित पुरुष तथा जलादि में प्रतिविम्बरूप से प्रविष्ट सूर्य के समान समस्त प्राणियों के देहेन्द्रिय संघात का एक अद्वितीय ब्रह्म ही आत्मा है। पिता के इस आदेश को सुनकर मैं सत् ही हूँ, सर्वात्मा ही हूँ—यह समझ गया।

"तत्त्वमसि" इत्यस्य नवधा प्रतिपादनमभ्यासः ।।

—अभ्यासः

उस अद्वितीय वस्तु का 'तत्त्वमसि' इस मन्त्र से नवधा प्रतिपादन किया गया है।

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्ताचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति कथमिति लवणमित्यन्तादाचामेति कथमित्यभिप्रास्यैतदथ मोपसीदथा इति तद्ध तथा चकार तच्छश्वत्संवर्तते तँ होवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ।।६।१३।२

विद्यमान भी आत्मा उपलब्ध क्यों नहीं होता, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को एक नमक का टुकड़ा देकर कहा—इसे जल में डाल दो और प्रातःकाल मेरे पास आना। श्वेतकेतु ने वैसा ही किया। प्रातःकाल आने पर उद्दालक ने कहा—हे सौम्य ! जो नमक का टुकड़ा जल में डाले हो उसे निकालो; किन्तु जव ढूँढ़ने पर भी नमक का टुकड़ा नहीं मिला, तव आरुणि वोला—"यथा विलीनमिति" जैसे नमक विलीन हो गया है, इसलिए तुम उसको नहीं निकल सके, तथापि वह नमक का पिण्ड उसी में है, दिखाई नहीं देता, उपायान्तर से उसकी उपलब्धि हो सकती है, इस वात की प्रतीति कराने के लिए वोले—"अन्तादाचाम" उपरी भाग से आचमन करो। आचमन करने पर पूछा—कैसा है ? उत्तर में श्वेतकेतु ने कहा—नमकीन है। पुनः आरुणि ने कहा—'मध्यादाचाम' मध्य भाग से आचमन करो। आचमन करने पर उद्दालक ने पूछा—कैसा है ? उत्तर मिला—नमकीन है। पुनः आरुणि ने कहा—'अन्त्यादाचाम' जल के अधोभाग का आचमन करो, आचमन करने पर पूछा—कैसा है ? श्वेतकेतु ने कहा—नमकीन है। तव उद्दालक ने कहा—सौम्य ! जिस प्रकार पहले यह नमक-

पिण्ड दर्शन और स्पर्श से गृहीत होता था, जल में विलीन होने से अब उस प्रकार गृहीत नहीं होता, परन्तु जिह्वा के द्वारा उसकी उपलब्धि होती है, ठीक इसी प्रकार तेज,अप, अन्न के कार्यभूत शरीर में बीजरूप से सत् के विद्यमान रहते हुये भी वट-बीज की अणिमा के समान इन्द्रियों से उसकी उपलब्धि नहीं होती, किन्तु उपायान्तर से उसकी उपलब्धि होती है। उपायान्तर क्या है? इस पर बोले—

यथा सौम्य पुरुष गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ् वा प्रत्यङ् वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥६।१४।१

हे सौम्य, जैसे कोई चोर किसी व्यक्ति को आँख बांधकर गांधार देश से लाकर निर्जन वन में बद्धचक्षु ही छोड़ देवे, वहाँ उसे दिग्भ्रम हो जाय और पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम चतुर्दिक् मुख करके चिल्लावे और कहे कि गांधार देश से चोर मुझे आँख बांधकर ले आए और आँख बँधे ही छोड़ गये। एवं क्रोशतः यानी इस प्रकार चिल्लाते हुए—

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गान्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गान्धारानेव सम्पद्येतैवमेहाचार्यवान् पुरुषो वेद ॥६।१४।२

—अपूर्वता

उस पुरुष को कोई दयावान् बन्धन खोलकर कह दे कि अमुक दिशा में गान्धार देश है, तुम चले जाओ। तब वह बुद्धिमान् ग्राम-ग्राम में पूछता हुआ अपने देश गांधार में पहुँच जाता है, इसी प्रकार जन्म-जन्मान्तर से इस संसार में भटकते हुए पुरुष को यदि कोई दयावान् आचार्य मिल जाय, तो उसके द्वारा वह पुरुष उस सत् वस्तु को जान जाता है और जानकर संसार से मुक्त हो जाता है।

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये ॥६।१४।२

—फलम्

ब्रह्मविद् के संचित और आगामी कर्म का विनाश तो हो जाता है, किन्तु प्रारब्ध का—जो कर्म फल भोग के लिए प्रवृत्त हो चुका है, उसका—भोग अवश्य करना पड़ता है। 'मुक्तेषुवत्' चलाया हुआ तीर जैसे बीचं में नहीं रुकता, उसी प्रकार जो कर्म भोग में प्रवृत हो चुका है उसको तो भोगना ही होगा। अतः श्रुति कहती है—तस्य तावदेव चिरम्'—उस ज्ञानी को सत् की सम्पत्ति में तब तक विलम्ब है, जब तक शरीरपात न हो जाय। शरीरपात होते ही वह सत् एकीभूत हो जाता है।

तमादेशमप्राक्षः येनाश्रुतं श्रुतमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति ।।६।१।३ —अर्थवादः

साङ्गवेदार्थ ज्ञान में समर्थ अनम्रस्वभाव अपने पुत्र श्वेतकेतु से महर्षि आरुणि ने पूछा—क्या अपने अध्यापक से उस आदेश को पूछा है, जिससे अश्रुत श्रुत हो जाय, अमत मत हो जाय और अविज्ञात विज्ञात हो जाता है ?

इस बात को सुनकर श्वेतकेतु ने पूछा—वह आदेश कैसा है ? उत्तर में उद्दालक ने कहा—

यथा सोम्यैकेन मृतपिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तित्येव सत्यम् ।।६।१।४

हे सौम्य ! जैसे एक मृत्पिण्ड के ज्ञात हो जाने पर मृत्तिका से बने सम्पूर्ण घट-शरावादि मृन्मय विकार जाने जाते हैं। विकार नाममात्र है 'विकारो नामधेयं' यहाँ धेय प्रत्यय स्वार्थ में है। अतः नाम केवल वाचारम्भरणमात्र है। परमार्थ केवल मृत्तिका ही सत्य वस्तु है।

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् सौम्य एवं स आदेशो भवति ।।६।१।६ —इत्याद्युपपत्तिः

जैसे एक लोहमणि—सुवर्णपिण्ड के ज्ञान से सुवर्ण के बने सम्पूर्ण कटक-कुण्डलादि का ज्ञान हो जाता है, विकार वाचारम्भणमात्र है,

सुवर्ण ही सत्य है इत्यादि। हे सौम्य! आदेश इसी प्रकार का है। तात्पर्य यह कि कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि कारण से कार्य पृथक् नहीं होता।

●

अथ सप्तमोऽध्यायः

देवर्षि नारद कृतकर्तव्य एवं सम्पूर्ण विद्याओं के ज्ञाता थे, किन्तु अनात्मविद् होने के कारण जब उन्हें ही शोक हो गया, तब अन्य अल्पज्ञ जीवों के लिए तो कहना ही क्या। शोक-मोह दूर होने का उपाय एकमात्र ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान ही है। सर्वविज्ञान-साधन-शक्ति-सम्पन्न नारद जी को जब शान्ति नहीं मिली, तब वे सनत्कुमार जी के पास गये।

श्रुतँ ह्येव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तँ होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥७।१।३

—उपक्रमः

देवर्षि नारद जी भगवान् सनत्कुमार के समीप जाकर बोले—आपके समान ब्रह्मवेत्ताओं से सुना है कि आत्मवित् शोक पार कर जाता है। मैं अनात्मज्ञ होने के कारण शोक करता हूँ, अकृतार्थ बुद्धि से संतप्त रहता हूँ, मुझे—आत्मज्ञानरूपी नौका द्वारा शोक समुद्र से पार कीजिए—कृतार्थबुद्धि करके निर्भय बना दीजिए।

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मतः आविर्भावतिरोभावा-वात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्म-तश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो

नामात्मतो मन्त्रा आत्मत कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वमिति ॥७।२६।१

'तस्य ह वा एतस्य' इत्यादि का तात्पर्य यह है कि स्वाराज्य-प्राप्त विद्वान् सत् आत्मस्वरूप का ज्ञान होने के पूर्व प्राण से नामपर्यन्त पदार्थों की उत्पत्ति और प्रलय आत्मा से अन्य सत् प्रकृति आदि से मानता था। जब सत् ही आत्मा है, यों आत्मतत्त्व ज्ञान हो गया, तब वह विद्वान् सबकी उत्पत्ति और प्रलय आत्मा से ही मानने लगता है तथा सर्व व्यवहार भी आत्मा से ही मानता है।

आत्मतत्त्वदर्शी विद्वान् आत्मा से प्राण, आत्मा से आशा, आत्मा से स्मृति, आत्मा से आकाश, आत्मा से तेज, आत्मा से जल, आत्मा से आविर्भाव एवं तिरोभाव, आत्मा से अन्न, आत्मा से बल, आत्मा से विज्ञान, आत्मा से ध्यान, आत्मा से चित्त, आत्मा से संकल्प, आत्मा से मन, आत्मा से वाक्, आत्मा से कर्म और सब पदार्थों की उत्पत्ति आत्मा से तथा सबका प्रलय आत्मा में ही होता है—ऐसा मानता है। तात्पर्य यह कि आत्मविद् की दृष्टि में आत्मा से भिन्न अन्य कोई पदार्थ है ही नहीं।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः ॥७।२६।२ —उपसंहारः

आहारशुद्धौ—(आह्रियते इत्याहारः) भोक्ता को भोग के लिए शब्दादि विषय का ज्ञान ही आहार है। विषयोपलब्धिरूप विज्ञान का शुद्धि रागादि दोषों से संपर्क न होना ही आहारशुद्धि है। भक्ष्य पदार्थ को भी आहार कहते हैं। आहारशुद्धि होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण शुद्ध होने से भूमात्मा में अविछिन्न स्मृति होती है। अविच्छिन्न स्मृति होने पर अनेक जन्मों के अनुभव एवं भावना से सुदृढ़ हुई अविद्याकृत अनर्थरूप हृदयस्थित ग्रन्थियों का विप्रमोक्ष विशेष रूप से नाश हो जाता है। आहारमूलक तत्त्वदर्शन है, अतः आहार-शुद्धि अवश्य होनी चाहिये।

यो वै भूमा तत्सुख नाल्पे सुखमस्ति भूमेव सुखं भूमा त्वेष विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥७।२३।१

जो भूमा है—महान् है, वही सुख है। भूमा "बहोर्भावः भूमा" जो सबसे बड़ा है। उससे नीचे के पदार्थ सातिशय हैं, अतः अल्प हैं, अल्प में सुख नहीं है। अल्प तृष्णा का हेतु होता है, तृष्णा ही दुःख है, अतः भूमा ही सुखस्वरूप है। भूमा को ही जानने की जिज्ञासा करनी चाहिये।

स एव अधस्तात्स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमित्यथातोऽहंकारादेश एवाहमेवाधस्तादहमेवोपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेद ँ सर्वमिति ॥७।२५।१

जिस आत्मतत्त्व का प्रकरण चल रहा है, उसको बतलाते हुए सनत्कुमार जी कहते हैं कि वही नीचे, वही ऊपर, वही आगे एवं पीछे है, वही दक्षिण तथा उत्तर में है, वही सब कुछ है। अहंकारादेश कहते हैं। 'स' इस परोक्षनिर्देश से द्रष्टा जीव से अन्य कोई भूमा है, यह शंका किसी को न हो जाय, इसलिये अहंकारादेश है। मैं ही नीचे, मैं ही ऊपर, मैं ही पीछे और मैं ही आगे हूँ, मैं ही दक्षिण और वायें भी हूँ, मैं ही सब हूँ। अब अहंकार से देहादिसंघात का ग्रहण न कोई कर ले, इसलिए आत्मादेश कहते हैं—

अथात आत्मादेश एवात्मैव अधस्तादात्मोपरिष्टात् आत्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेद ँ सर्वमिति।

स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरति आत्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति अथ येऽन्यथातो विदुरन्य-

राजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाँ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥२।२५।७

—इत्यभ्यासः

अब आगे केवल सत्-स्वरूप शुद्ध आत्मा के द्वारा आदेश करते हैं, आत्मा नीचे, आत्मा ही ऊपर, आत्मा पीछे, आत्मा ही आगे, आत्मा दायें और आत्मा ही बायें, आत्मा ही यह सब है। इस प्रकार आकाश के समान सर्वत्र पूर्ण एक, अज, अनन्त आत्मा को देखनेवाले विद्वान् को मनन और विज्ञान के कारण आत्मरति—आत्मा में ही रति, आत्मा में ही क्रीडा होती है। रतिसाधन केवल शरीर है और क्रीडा का साधन बाह्य होता है। आत्ममिथुन आत्मानन्द होता है, इस लक्षण वाला विद्वान् जीवित रहता हुआ ही स्वाराज्य में अभिषिक्त होता है तथा देहपात होने पर भी स्वराड् ही रहता है, उसकी समस्त लोकों में यथेच्छ गति होती है। जो इस लक्षण से विपरीत लक्षण वाला विद्वान् है, वह अन्य राष्ट् के स्वामी के आधीन रहता है तथा नाशवान् लोकों को प्राप्त करता है, सम्पूर्ण लोकों में उसकी यथेच्छ गति नहीं होती।

स होवाच" ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥७।१।२

—अपूर्वता

भगवान् सनत्कुमार के यह कहने पर कि 'यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त उर्ध्वं वक्ष्यामि।' जो जानते हो उसे बतला कर उससे आगे मुझसे उपदेश ग्रहण करो, इसके उत्तर में नारद जी अधीत विद्या का स्मरण करते हुए बोले—

हे भगवन्! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्वण वेद जानता हूँ। इतिहास, पुराण, पाचवाँ वेद महाभारत, वेदों का वेद–व्याकरण, पित्र्य–श्राद्धकल्प, राशि–गणित, दैव–उत्पत्तिज्ञान, निधि–महाकालादि निधिशास्त्र, वाकोवाक्य–तर्कशास्त्र, एकायन–नीतिशास्त्र,

वेदविद्या–निरुक्त, ब्रह्मविद्या—ब्रह्मवेद, ऋगादि वेदों की विद्या–शिक्षा, कल्प, छन्द, औचिति, भूतविद्या–भूतशास्त्र, क्षत्रविद्या–धनुर्वेद, नक्षत्रविद्या–ज्योतिष, सर्पविद्या—गारुड़, देवजनविद्या—गन्ध, युक्ति, नृत्य, गीत, वाद्य , शिल्पादिविज्ञान मैं जानता हूँ ।

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखता ँ सर्वं ँ ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः इति ।७।६।२ — फलम्

उपर्युक्त ब्रह्म के द्रष्टा विद्वान् मृत्यु, ज्वरादि रोग तथा दुःख-भाव को नहीं देखता है । सबको आत्मरूप से ही देखता है, अतः वह विद्वान् सबको सब प्रकार से प्राप्त होता है ।

सर्वं ँ ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति । —अर्थवादः

वह विद्वान् सबको आत्मरूप से ही देखता है, अतः सबको सब प्रकार से प्राप्त करता है ।

आत्मतः प्राण आत्मतः आशात्मतः स्मर आत्मतः आकाश आत्मतस्तेज आत्मतः आप आत्मतः आविर्भावतिरोभावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेद ँ सर्वमिति ॥७।२६।१ —उपपत्तिः

अर्थ पूर्ववत् ।

अथाष्टमोऽध्यायः

य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स

विजिज्ञासितव्यः स सर्वाँश्च लोकानाप्नोति सर्वाँश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥८।७।१
—उपक्रमः

जो आत्मा पापरहित है, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा और तृष्णादि से रहित है, सत्यकाम एवं सत्यसंकल्प है, जिसकी प्राप्ति हृदयपुण्डरीक में कही गयी है। जिसमें अनृत से ढका हुआ सत्यकाम स्थित है, 'यस्योपासनायोपलब्ध्यर्थं हृदयपुण्डरीकमभिहितम् । यस्मिन्कामाः समाहिताः सत्या अनृतापिधानाः ।' ब्रह्मचर्य जिसका साधन कहा गया है—'ब्रह्मचर्यं साधनमुक्तम्' विशेष रूप से शास्त्र और आचार्य से उसका ज्ञान प्राप्त होता है, अन्वेषण विशेष विज्ञान से सम्पूर्ण लोकों के तथा समस्त कामनाओं को प्राप्त करता है—ऐसा प्रजापति ने सभा में कहा।

तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाँ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाँश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥८।१२।६
—उपसंहारः

ये जो भोग ब्रह्मलोक में हिरण्यनिधि के तुल्य बाह्य विषयों की आसक्तिरूप अनृत से आच्छादित हैं, वे केवल संकल्पमात्र से लभ्य हैं। जिसके विषय में प्रजापति ने इन्द्र को उपदेश दिया, देवगण उस आत्मा की उपासना करते हैं, उसकी उपासना से उन्हें सम्पूर्ण लोकों का सम्पूर्ण फल प्राप्त होता है, इस समय भी जो उस आत्मा को जानकर साक्षात् कर लेता है, वह समस्त लोकों के भोगों को प्राप्त कर लेता है, प्रजापति ने ऐसा कहा।

प्रजापति के इस वचन को सुनकर देवराज इन्द्र और दैत्यराज विरोचन ने समित्पाणि होकर प्रजापति के समीप ३२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण कर निवास किया।

तौ ह द्वात्रिँशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्ताववास्तमिति तौ होचतुर्य आत्मा

अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपास सत्यकामः सत्यसंकल्प सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्ताववास्तमिति ।

प्रजापति ने पूछा—आप दोनों ने किसलिए ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया? उन दोनों ने कहा—'य आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादि लक्षण वाले आत्मा को आपने बतलाया है, उस आत्मा को जानने के लिए यहाँ वास किया है।

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म ।।८।७।४

प्रजापति बोले—जितेन्द्रिय, राग-द्वेष से रहित, योगियों के नेत्र में जो द्रष्टा पुरुष दिखाई देता है, वह अपहतपाप्मादि लक्षण वाला आत्मा है।

प्रजापति के इस वचन को सुनकर नेत्र के भीतर दिखाई देनेवाले छायापुरुष को ही उन्होंने आत्मा समझ लिया और विचार दृढ़ करने के लिए प्रजापति ने पूछा—हे भगवन्! जो जल में तथा दर्पण में दिखाई देता है, उनमें कौन आत्मा है? इसके उत्तर में प्रजापति ने कहा—मैंने जो चक्षु में द्रष्टा पुरुष कहा है, वही आत्मा है।

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति···आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्य प्रतिरूपमिति ।।८।८।१

प्रजापति के द्वारा नेत्र में बतलाये गये द्रष्टा पुरुष को आत्मा न समझकर छायापुरुष को ही उन्होंने आत्मा समझा। इस भ्रम को दूर करने के उद्देश्य से ब्रह्मा ने कहा—उदशराव—जलपूर्ण पात्र में अपने को देखकर जो कुछ नहीं समझ सको, वह मुझसे कहो। तब वे दोनों

जलपूर्ण पात्र में देखकर प्रजापति से बोले—हे भगवन् ! नखलोमपर्यन्त प्रतिरूप छायात्मा को देखा है।

पुनः प्रजापति उन दोनों से बोले—

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावे अवेक्षेथामिति तौ ह साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ।।८।८।१

सुन्दर वस्त्र, आभूषण आदि अलङ्कारों से अलंकृत होकर उदशराव में देखो। उन दोनों ने सुन्दर वस्त्र और अलङ्कारों से अलंकृत होकर उदशराव में देखा, देखने पर प्रजापति ने पूछा, क्या देखा? इसके उत्तर में वे बोले—

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृताविस्येष आत्मा होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रव्रजतुः ।८।८।२

जिस प्रकार हम दोनों साध्वलंकृत हैं, उसी प्रकार ये छायात्मा भी हैं। इस प्रकार वे दोनों विपरीत निश्चय वाले हो गये; प्रजापति ने जिस आत्मा को य आत्मा अपहतपाप्मादि लक्षण कहकर पहले नेत्रान्तर-गत पुरुष कहा था, उसके विपरीत छायात्मा के ग्रहण करने पर विपरीत ज्ञान की निवृत्ति के लिये साध्वलंकृत होकर उदशराव में देखने को कहा, किन्तु उदशराव में देखने पर भी आत्मस्वरूप ज्ञान में विपरीत ज्ञान की निवृत्ति नहीं हुई, तब उन दोनों के विवेकज्ञान का सामर्थ्य किसी दोष से प्रतिबद्ध हो गया है, ऐसा जानकर पहले की तरह कहा कि वह आत्मा है, अमृत है, अभय है, यही ब्रह्म हैं; यह सुनकर शान्तहृदय होकर दोनों चले गये।

जाते देखकर प्रजापति बोले—देवता या असुर दोनों में से जो कोई भी इस उपनिषद् वाला होगा, यानी देह ही आत्मा है—ऐसा

निश्चय करेगा, उसका पराभव–श्रेयमार्ग नष्ट हो जायगा। विरोचन ने असुरों की सभा में पहुँचकर असुरों से कहा कि प्रजापति ने देह को ही आत्मा बतलाया है, यही सेवनीय और पूजनीय है, इसी की परिचर्या से इस लोक और परलोक दोनों में कल्याण होगा।

किन्तु इन्द्र को देवसभा में पहुँचने के पहले भय दिखाई देने लगा। इन्द्र ने विचार किया कि इस शरीर के अलंकृत होने से वह छायात्मा अलंकृत होता है, इसके अन्धे होने पर अन्धा होता है, इसके स्राम होने से स्राम होता है—'स्रवतीति स्राम' जिसके नेत्र और नासिका बहती है—उसको स्राम कहते हैं, इस शरीर के खण्डित होने पर खण्डित होता है, इसके नाश से उस छायापुरुष का नाश हो जाता है; अतः यह अपहतपाप्मादि लक्षण वाला आत्मा नहीं हो सकता—ऐसा विचार कर वह पुनः समित्पाणि होकर प्रजापति के समीप पहुँचा। प्रजापति ने आने का कारण पूछा। पूछने पर इन्द्र ने अपना उपर्युक्त सन्देह कह सुनाया।

स समित्पाणिः पुनरेयाय तँ ह प्रजापतिरुवाच मघवन् यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥२।९।८॥

इन्द्र का सन्देह सुनकर प्रजापति ने कहा कि सन्देह ठीक है, पुनः इसकी व्याख्या करूँगा। बत्तीस वर्ष और ब्रह्मचर्य धारण करो।

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिँशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिँशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥३।९।८

बत्तीस वर्ष बीतने पर जो आत्मा अपहतपाप्मादि लक्षण वाला कहा गया है, उसकी व्याखया करते हुए बोले।

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श। तत्र यद्यपीदं शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥१।१०।८

जो स्वप्न में महीयमान—पूजित होकर विचरता है अर्थात् अनेक प्रकार के भोगों का अनुभव करता है, वही आत्मा है, अमृत है, अभय है और वही ब्रह्म है।

ब्रह्माजी के ये वचन सुनकर इन्द्र पुनः विचार करता है कि यद्यपि इस शरीर के अन्धे होने पर स्वप्नशरीर अन्धा नहीं होता, इसे स्राम होने पर उसे स्राम नहीं होता,न इसके वध होने से उसका वध होता है, तथापि विच्छादित--विद्रावित--ताड़ित-सा होता है। कोई मारता हो, ताड़ित करता हो, अप्रियवेत्ता--रोदन करता हुआ-सा प्रतीत होता है। अतः स्वप्नात्मज्ञान से भी अभीष्ट सिद्धि नहीं दिखती, ऐसा विचार कर पुनः समित्पाणि होकर प्रजापति के समीप आकर उपरोक्त अपना संदेह सुनाया। सुनकर प्रजापति ने सोचा कि अभी भी दोष निवृत्त नहीं हुआ है, अतः वोले—इसकी व्याख्या पुनः करूँगा, और वत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य धारण करो। गुरु के वचन में प्रमाण मानने वाले इन्द्र ने पुनः श्रद्धापूर्वक वत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण किया, तव प्रजापति वोले—

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति। स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज, स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श। नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥१॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तं ह प्रजापतिरुवाच मघवन् यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच

नाहं खल्वयं भगव एवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥२।११।८

जो नेत्रस्थ द्रष्टा स्वप्न में महीयमान पूजित होकर विचरता है, वही सो जाने पर जब दर्शनवृत्ति से रहित हो जाता है, तब प्रसन्न होकर स्वप्न को नहीं देखता, वही आत्मा है, अमृत, अभय है और वही ब्रह्म है।

इन्द्र को वहाँ भी भय दिखाई पड़ने लगा, विचार करता है कि सुषुप्तावस्था में तो आत्मा अपने को भी नहीं जानता कि मैं अमुक हूँ तथा अन्य को भी नहीं जानता, विनाश के सदृश हो जाता है, इसके जानने से तो इष्टसिद्धि नहीं हो सकती—ऐसा निश्चय कर समित्पाणि होकर प्रजापति के समीप गया। प्रजापति ने पूछा—मघवन्! आप तो शान्तहृदय होकर चले गये थे, पुनः किसलिये आये ? ऐसा पूछने पर उसने अपना संदेह सुनाया, सुनकर प्रजापति ने कहा—'वसापराणि पञ्च-वर्षाणि ब्रह्मचर्यम्' पाँच वर्ष और ब्रह्मचर्य धारण करो, इस प्रकार एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्य रहने पर ब्रह्मा जी बोले—

मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥१।१२।८

—इत्याद्यभ्यासः

हे मघवन्! यह शरीर मर्त्य अर्थात् मरणधर्मा है, मर्त्य ही नहीं, अपितु मृत्यु से आत्त—व्याप्त है। अमृत अशरीरी आत्मा का वह अधिष्ठान है अर्थात् उपलब्धि का आधार है। इसमें जीवरूप से प्रविष्ट होकर सत् ही अधिष्ठित है, अतः यह शरीर अधिष्ठान है। सशरीर पुरुष बाह्य विषयों के संयोग और वियोग द्वारा प्रियाप्रिय—सुख और दुःख—से व्याप्त ही रहता है, अतः सशरीर आत्मा को प्रियाप्रिय-विच्छेद नहीं होता, अशरीर आत्मा को प्रियाप्रिय का स्पर्श ही नहीं होता।

अशरीरस्वभाव आत्मा का 'शरीर मैं हूँ' इस अविवेक से ही सशरीरत्व है, सशरीर को जन्म-मरण से छुटकारा नहीं मिलता। उसी को इस देह में ही विवेक से देहाभिमान निवृत्त होने पर अशरीर-स्वरूप विज्ञान होने से जन्ममरणरहित होकर प्रजापति द्वारा बतलाये गये अमृत, अभय, ब्रह्मस्वरूप आत्मा का बोध हो जाता है।

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीति ।।३।४।८।

—अपूर्वता

सकृद् विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ।।२।४।८

ब्रह्मलोक सर्वदा प्रकाशमान है, अपने रूप से एकरूप है। उस ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य, शास्त्र और आचार्य के द्वारा जो जानता है, उसी ब्रह्मोपासक को ब्रह्मलोक प्राप्त होता है, और उसी को समस्त लोकों में यथेच्छ कामचार भी होता है।

आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यो स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते ।।१।१५।८

—फलम्

कर्मातिशेषेण का तात्पर्य यह है कि गुरुशुश्रूषा ब्रह्मचारियों का प्रधान कर्म है, अतः गुरुसेवा से बचे शेषकाल में किया गया स्वाध्याय यथार्थ ज्ञान और कर्म का फल प्राप्त करा सकता है। कर्मातिशेष काल में विधिपूर्वक अर्थसहित वेदों का स्वाध्याय करके अभिसमावृत्य—धर्मजिज्ञासा समाप्त कर यथाविधि गुरुकुल से निवृत्त होकर विधिपूर्वक दारपरिग्रह करे एवं कुटुम्ब में रहता हुआ, गृहस्थाश्रम के कर्मों में तत्पर, पवित्र देश में प्रतिदिन यथाशक्ति वेदों का स्वाध्याय करता हुआ तथा पुत्र और शिष्यों को धर्माचरणपूर्वक स्वाध्याय करवाता हुआ उन्हें धर्मवान् बनावे। और अन्त में सर्वेन्द्रियों का संयमन करके अपने हृदयस्थ ब्रह्म में उपसंहार करे। साथ ही सर्व कर्मों का त्याग कर

सब जीवों को अभय देकर यावदायु वर्तता रहे। 'अन्यत्र तीर्थेभ्यः' का मतलब यह है कि संन्यासी से भी भिक्षाटनादि में हिंसा हो सकती है, अतः 'तीर्थं नाम शास्त्रानुज्ञाविषयस्ततोऽन्यत्र' तात्पर्य यह कि भिक्षाटन से अन्यत्र हिंसा न करता हुआ, देहावसान होने पर ब्रह्म-लोक प्राप्त कर लेता है और पुनः शरीर ग्रहण करने के लिये नहीं लौटता।

इन्द्रस्यासुरस्वामिनो विरोचनस्य चाख्यायिका अर्थवादः।

—अर्थवादः

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ।।२।१२।८

वायु अशरीर है, अभ्र-विद्युत् और स्तनयित्नु—मेघध्वनि—ये सभी अशरीर हैं। जिस प्रकार आकाश से उठकर ये सब अपने पर-ज्योति को प्राप्त कर पुनः अपने-अपने स्वरूप में परिणत हो जाते हैं—

एवमेष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुप-सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमपुरुषः ।।

—इत्युपपत्तिः

—उसी प्रकार अविद्या से सांसारिक अवस्था में शरीर से साम्यापन्न मैं अमुक का पुत्र उत्पन्न हुआ हूँ, जराग्रस्त हूँ, अनेक दुःखों से पीड़ित हूँ, मरूँगा—इस प्रकार देहाभिमानी देवराज इन्द्र को प्रजापति ने यथोक्त क्रम से समझाया। 'नासि त्वं देहेन्द्रियधर्मा 'तत्त्वमसि' अज-रामरामृतपरमानन्दस्वरूपोऽसि' देहेन्द्रिय धर्मवाले तुम नहीं हो, किन्तु तत्-सत्-अजर-अमर-अमृत-परमानन्दस्वरूप हो, इस प्रकार प्रबोधित करने पर वह सम्प्रसाद यानी जीव आकाश से वायु आदि के समान इस शरीर से उत्थान कर अर्थात् शरीराभिमान का त्याग कर स्वेन रूपेण अर्थात् देहादि से विलक्षण स्वप्रकाश सत्-स्वरूप में स्थित हो जाता है।

इति छान्दोग्यः

———

अथ बृहदारण्यकोपनिषद्

अथ प्रथमोऽध्याय:

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियताऽसौ नामायमिद ँ. रूप इति तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौ नामायमिद् ँ. रूप इति स एव इह प्रविष्ट: । आ नखाग्रेभ्यो यथा क्षुर: क्षुरधानेऽवहित: स्याद्विश्वम्भरो वा विश्म्भरकुलाये तं न पश्यन्ति । अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति । वदन् वाक् पश्य ँ.श्चक्षु: शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव । स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति । तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मानेन ह्येतत्सर्वं वेद ।।७।४।१

इदं—यह जगत् उत्पत्ति से पूर्व अव्याकृत था, नाम और रूप से व्याकृत हुआ। जिस परमात्मा में स्वाभाविकी अविद्या से कर्ता, क्रिया और फल का अध्यारोप किया गया है, जो सारे जगत् का कारण है, यदात्मभूत नाम-रूप जिससे समय पर वैसे व्याकृत हुए, जैसे स्वच्छ जल में, मल के समान तरङ्ग, फेन, बुद्-बुद अव्याकृतरूप से स्थित हो समय पर व्याकृत होते हैं, जो स्वयं नाम रूप से विलक्षण, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वरूप है, वही अव्याकृत आत्मभूत नाम-रूप को व्याकृत—प्रकट करके ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त कर्मफलाश्रयभूत अशनायादियुक्त समस्त देहों में प्रविष्ट हो गया।

'यस्मिन्नविद्यया स्वाभाविक्या कर्तृक्रियाफलाध्यारोपणा कृता य: कारणं सर्वस्य जगत: यदात्मके नामरूपे सलिलादिव स्वच्छान्मलमिव फेनमव्याकृते व्याक्रियेते, यश्च ताभ्यां नामरूपाभ्यां विलक्षण: स्वतो नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-

स्वभावः स एषोऽव्याकृते आत्मभूते नामरूपे व्याकुर्वन् ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु देहेष्विह कर्मफलाश्रयेष्वशनायादिमत्सु प्रविष्टः—'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' । —उपक्रमः

वह व्याकर्त्ता यद्यपि शरीर में है, तथापि जैसे विश्वम्भर अग्नि अपने आश्रय—काष्ठ में गुप्त रहता है, वैसे ही इस शरीर में प्रविष्ट वह गुप्त है, अतः साधारण लोग 'तं न पश्यन्ति' उसको नहीं देखते। इस शरीर में प्राणन क्रिया करने से उसका प्राण—यह नाम होता है। तथा वदन क्रिया से वाक्, दर्शन क्रिया से चक्षु, श्रवण से श्रोत्र, मनन से मन आदि नाम वाला होता है। 'कर्म नामान्येव' ये सब कर्मानुकूल ही नाम हैं। अतः इनमें जो एक-एक की उपासना करता है, वह अपूर्ण ही रहता है। इसीलिये 'आत्मेन्येवोपासीत' 'आत्मा है' इस प्रकार ही उपासना करनी चाहिए। इस आत्मा में वे सब एकीभूत हो जाते हैं, अतः आत्मा ही सब को प्राप्तव्य है।

अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति, यथा वेदो वाननुक्तोन्यद्वा कर्माकृतं यदि ह वा अप्यनेवं विन्महत् पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते ॥१५।४।१।

—उपसंहारः

जो व्यक्ति इस संसार में आतमस्वरूप का दर्शन—साक्षात् अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इस तरह प्रत्यक्ष ज्ञान किये बिना मर जाता है, उसको अविदित आत्मा पालन नहीं करता। तात्पर्य यह कि यद्यपि आत्मा प्रत्यक्ष है, तथापि अविद्या से व्यवहित होने से अज्ञात है, दशम संख्यापूर्ति के समान है। अज्ञात होने से ही वह शोकमोहादिनिवृत्ति द्वारा पालन नहीं करता। 'तरति शोकमात्मवित् इति श्रुतेः'। जैसे लोक में विना अननुक्त—अध्ययन किया हुआ वेद कर्मानुष्ठान का अवबोध पालन नहीं करता, अथवा अन्य कृषि आदि लौकिक कर्म स्वरूप से अभिव्यक्त हुए विना फल नहीं देते; उसी प्रकार जबतक नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप आत्मा 'अहं ब्रह्मास्मि' इस रूप से

अभिव्यक्त नहीं होता, तबतक अविद्या की निवृत्ति नहीं करता। अनात्मविद् यदि इस लोक में महान् पुण्यकर्म भी करता है, तो उसका किया कर्म अन्त में क्षीण ही हो जाता है; अतः आत्मरूप की ही उपासना करनी चाहिए। जो आत्मस्वरूप की उपासना करता है, उसका किया कर्म क्षीण नहीं होता ॥१५।१४

तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मानेन ह्येतत्सर्वं वेद ॥७।४।१

प्रकरण में कथित आत्मा ही पदनीय-गमनीय अर्थात् जानने योग्य है, अन्य अनात्मा नहीं।

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत ॥८।४।१

आत्मा निरतिशय प्रेम का आस्पद है, लोक में पुत्र प्रिय है, किन्तु आत्मा पुत्र से भी प्रिय है, धन से भी प्रिय है। और भी जो-जो अन्य वस्तु प्रियरूप से प्रसिद्ध हैं, उन सबसे आत्मा प्रियतर है। क्यों प्रिय है? इसके उत्तर में श्रुति कहती है, अन्तरतर अर्थात् अत्यन्त समीप है। तात्पर्य यह कि वित्त से पुत्र, पुत्र से पिण्ड, पिण्ड से इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियों से प्राण और प्राण से भी अत्यन्त समीप होने के कारण आत्मा प्रियतर है।

यदि कोई आत्मा से अन्य अनात्मा को प्रियतर कहे, तो आत्मप्रियवादी उससे कहे कि तुम्हारा अभिमत प्रिय पुत्रादि तुमको रुलावेगा, अनित्य होने से प्राणसंरोध होगा, प्राणसंरोध होने पर मरेगा, इसलिये रुलावेगा। आत्मप्रियवादी ईश्वर यानी समर्थ है, सत्यवादी है, अतः जैसा कहेगा वैसा ही होगा। इसलिए अत्यन्त प्रियतर आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए।८।४।१

तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवँ सूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदं

सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च ना भूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवति ।।१०।४।१ —अभ्यासः

इस ब्रह्मविद्या का फल सर्वात्मभाव की प्राप्ति है, इस बात को दृढ़ करने के लिए श्रुति कहती है—'तद्धैतत्' इति। उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ही ब्रह्म हूँ, यों समझने वाले वामदेव नामक ऋषि को सर्वात्मभावरूप ज्ञान प्राप्त हुआ—तद् ब्रह्म एतदात्मानमेव अहं ब्रह्मास्मि इति पश्यन्नेतस्मादेव ब्रह्मणो दर्शनादृषिः वामदेवाख्यः प्रतिपेदे प्रतिपन्नवान् किल। स एतस्मिन्ब्रह्मदर्शनेऽवस्थितः एतान्मन्त्रान्ददर्श—अहं मनुरभवं ˝ सूर्यश्च। इस ब्रह्मात्मदर्शन में स्थित होकर अहं मनुरभव ˝ सूर्यश्च—इन मन्त्रों को बामदेव ने देखा। प्रकरण में प्राप्त ब्रह्म, जो समस्त भूतों में अनुप्रविष्ट है तथा दर्शन, श्रवण, मनन आदि लिङ्गों से जाना जाता है, उसे इस समय वर्तमान काल में भी समस्त बाह्य विषयों की तृष्णा त्याग कर जो व्यक्ति'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार जानता है,वह उपाधिजनित समस्त भ्रान्तियों को दूर करके सम्पूर्ण सांसारिक धर्मों से अनागन्वित 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार सर्वात्मभाव को प्राप्त हो जाता है। उस आत्मविद् के ऐश्वर्य का देवता भी पराभव करने में समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह सबके लिए आत्मरूप बन जाता है ।।१०।४।१

तदाहुर्यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद् ब्रह्माऽवेद्यस्मात्तत् सर्वमभवत् ।।९।४।१

ब्राह्मणाः—ब्रह्म को जानने की तथा जन्म, जरा और मरण के प्रवाह में चक्रवत् निरन्तर भ्रमण द्वारा जनित दुःख ही जिसमें जल है, ऐसे अपार संसार-समुद्र को पार हो जाने की इच्छा करने वाले ब्राह्मणों ने कहा, क्या? ब्रह्मविद्यया—'ब्रह्म परमात्मा तद् यया वेद्यते सा ब्रह्मविद्या' वह परमात्मा जिस विद्या से जाना जाय, उसको ब्रह्मविद्या कहते हैं। उस ब्रह्मविद्या से हम सर्वात्मक हो जायेंगे, ऐसा मनुष्य मानते हैं। वह ब्रह्म क्या है? जिसके विज्ञान से हम सर्वरूप हो जायँ? तथा उसने क्या जाना? जिस विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया।९।४।१

'ब्रह्म च सर्वमिति श्रूयते' ब्रह्म सर्वरूप है—ऐसा सुना जाता है। वह यदि कुछ बिना जाने सर्वरूप हो गया, तब तो दूसरा कोई भी

वैसे ही विना कुछ जाने ही सर्वरूप हो जायगा, फिर ब्रह्मविद्या का क्या फल होगा ? यदि कुछ जानकर सर्वज्ञ हुआ, तब तो विज्ञान-साध्य होने से उसकी सर्वात्मा अनित्य हो जायगी—इस प्रकार प्रश्न उठने पर श्रुति स्वयं उत्तर देती है।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत् ।।१०।४।१ —अपूर्वता

ब्रह्म वस्तु यत्साक्षादपरोक्ष सर्वान्तिर आत्मरूप तथा अशनाया-पिपासादि धर्मों से रहित है, नेत-नेति श्रुति से प्रतिपादित है एवं अस्थूलमनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, अच्छाय, अतमो, अवायु, अनाकाश, असंग, अरस, अगंध, अचक्षुष्क, अश्रोत्र, अवाक्, अमन, अतेजस्क, अप्राण, अमुख इत्यादि लक्षणों से युक्त है, वही मैं हूँ, अन्य संसारी नहीं—इस प्रकार के विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया। अध्यारोपित अब्रह्मत्व का बाध होने से असर्वत्व कार्य की निवृत्ति हो जाने पर सर्वरूप हो गया, अतः जो मनुष्य ब्रह्मविद्या से सर्वरूप हो जाता है, ऐसा मानते हैं, वह ठीक ही है। जो पूछा था कि ब्रह्म ने क्या जाना, जिससे सर्वरूप हो गया, इसका उत्तर 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इस मन्त्र से हो गया।

य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवतीति ।।१०।४।१ —फलम्

जो साधनसम्पन्न 'अहं ब्रह्मास्मि' जानता है, वह सर्वात्मभाव से युक्त हो जाता है।

तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवति ।।१०।४।१ —अर्थवादः

उस आत्मविद् के ऐश्वर्य को देवता भी पराभूत नहीं कर सकते, क्योंकि वह उनका भी आत्मा हो जाता है।

स एष इह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये तं न पश्यन्ति ।।१०।४।१ —उपपत्तिः

वह आत्मा इस शरीर में नखाग्रपर्यन्त में प्रविष्ट है। जैसे छुरा क्षुरधान (लोखर) में प्रविष्ट रहता है तथा विश्वम्भर अग्नि अपने आश्रय काष्ठ में प्रविष्ट रहता है, किन्तु प्राणी उसे देखता नहीं।

—○○○○—

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमाध्याये आत्मेत्यवोपासीत तदन्वेषणे च सर्वमन्विष्टं स्यात्, तदेवात्मतत्त्वं सर्वस्मात्प्रेयस्त्वादन्वेष्टव्यम् ।

आत्मा है, उसी की उपासना करनी चाहिए; उसके अन्वेषण से सभी अन्विष्ट हो जाते हैं तथा सर्वप्रिय पदार्थों में आत्मा निरतिशय प्रेमास्पद है, अतः वही खोजने योग्य है; यह बात कही गयी, उसी आत्मतत्त्व का प्रकारान्तर से प्रतिपादन करने के लिये द्वितीय अध्याय का प्रारम्भ करते हैं।

दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाच अजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाच अजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥१।१।२ —सामान्योपक्रमः

गर्ग गोत्रोत्पन्न गर्वीला, बोलने में बड़ा समर्थ, अष्ट अधिदैव, अष्ट अध्यात्म प्राण को ही अभेद रूप से ब्रह्म की उपासना करने वाला बालाकि नाम का ब्राह्मण, अजातशत्रु काशिराज के समीप जाकर बोला—मैं आपको ब्रह्म का उपदेश दूँगा। अजातशत्रु से काशिराज ने कहा—इस वचन के लिए मैं आपको हजार गौएँ देता हूँ, लोग जनक-जनक करके दौड़ते हैं।

इस प्रकार श्रवण के लिए अभिमुख अजातशत्रु से उसने कहा—आदित्य और चक्षु में एकरूप पुरुष है, वही ब्रह्म है, उसी की उपासना करनी चाहिए, किन्तु अजातशत्रु ने निषेध करते हुए कहा—वह सबका अतिक्रमण करके स्थित है, वह सब भूतों का मस्तक है, उस पुरुष की मैं उपासना करता हूँ, यह कह कर खण्डन कर दिया। तदनन्तर

बालाकि ने क्रमशः चन्द्रमा, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, जल, आदर्श, प्राण, दिक्, छाया और देहान्तरगत पुरुषों में ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन किया। किन्तु काशीराज ने सबका प्रत्याख्यान कर दिया। अन्त में बालाकि मौन हो गया। काशीराज अव्याकृत से परे सर्व-विशेषशून्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप ब्रह्म का ज्ञाता था, अतः बालाकि ने अजातशत्रु का शिष्यत्व स्वीकार किया, इस पर काशिराज बोले—

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद्ब्राह्मणः क्षत्रिय-मुपेयाद्ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषꣳ सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नाम-भिरामन्त्रयाञ्चक्रे बृहन् पाण्डरवासः सोमराजन्निति स नोत्तस्थौ पाणिनाऽऽपेषं बोधयाञ्चकार स होत्तस्थौ ॥१५॥१॥२

—विशेषोपक्रमः

यह प्रतिलोम—विपरीत है, कि उत्तम वर्ण आचार्यत्व का अधिकारी ब्राह्मण को अनाचार्य स्वभाव वाला क्षत्रिय 'हमको ब्रह्म का उपदेश करेगा', इस उद्देश्य से क्षत्रिय का शिष्यत्व स्वीकार करे, वैसा करना आचारविधिप्रतिपादक शास्त्रों में निषिद्ध माना गया है। 'तस्मात्तिष्ठ त्वमाचार्य एव सन्' अतः आप आचार्य ही बने रहें, फिर भी मुख्य वेद्य ब्रह्म का ज्ञान आपको करा ही दूँगा। गार्ग्य को लज्जित देखकर विश्वास उत्पन्न करने के लिये उनके दोनों हाथों को अपने हाथ में लेकर उठे और दोनों राजभवन में एक सोये हुए पुरुष के पास गये। सोये हुए पुरुष को हे बृहन्! हे पाण्डरवासा! हे सोमराजन्! इस नाम से उठाने लगे, किन्तु सोया हुआ वह व्यक्ति नहीं उठा। जब हाथ से दबाकर जगाया, तब जाग उठा।

यहाँ सुषुप्त पुरुष के पास जाने का तात्पर्य यह है कि गार्ग्य का अभिमत प्राण ब्रह्म है, किन्तु प्राण मुख्य ब्रह्म नहीं है, सत्य से छन्न प्राणात्मा है, जो कि वागादि इन्द्रियों के अस्त होने पर भी अस्त नहीं होता है। इसके विपरीत अजातशत्रु का अभिप्रेत मुख्यात्मा है, जो कि चेतन, भोक्ता और साक्षी है, इन दोनों के विवेक से निश्चय का कारण जाग्रद् अवस्था में मिले-जुले हैं। क्योंकि जाग्रद् अवस्था में प्राणसहित इन्द्रियों के व्यापार चलते रहते हैं। परन्तु सुषुप्ति में

इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभी अपने-अपने कारण में लीन रहते हैं। केवल प्राण ही जागता रहता है। मैं आपको ब्रह्म का उपदेश करूँगा ही, यह अजातशत्रु की प्रतिज्ञा है। अतः मुख्य ब्रह्म चेतन,साक्षी, द्रष्टा, सर्वोपाधि विनिर्मुक्त, जिसमें नाम, रूप, क्रिया, कारक, फलाभिमान लक्षण संसार अविद्या से अध्यारोपित है। ब्रह्मविद्या के द्वारा अध्यारोपित नाम-रूपादि को निवृत्त करके सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त संसारी धर्म-रहित ब्रह्म को बोधन कराने के उद्देश्य से सुषुप्त पुरुष को बृहन्! पाण्डरवासा! सोमराजन्! इत्यादि प्राण का नाम लेकर जगाया। यदि गार्ग्य का अभिमत प्राण ही मुख्य ब्रह्म होता तब तो उपर्युक्त प्राण के नामों से सम्बोधित करने पर वह जाग जाता,किन्तु जागा नहीं, इससे यह निश्चय हुआ कि प्राण मुख्य आत्मा नहीं है। दबा के जगाने पर जब जागा तो अजातशत्रु ने गार्ग्य से पूछा।

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमय पुरुषः क्वैष तदाभूत् कुत ऐतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः ॥१६।१।२

—सामान्योपसंहारः

देहादि संघात से भिन्न आत्मा का अस्तित्व-बोधन कराने के लिए अजातशत्रु बोले—यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब सोया हुआ था, तब कहाँ था? यहाँ विज्ञानमय शब्द से मयट् प्रत्यय है, 'विज्ञायतेऽनेन' इस व्युत्पत्ति से अन्तःकरणविशिष्ट विकारी जीव भी अर्थ हो सकता है। किन्तु प्राचुर्यार्थ में मयट् होने से यहाँ प्राचुर्य अर्थ ही स्वीकार किया गया है। 'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः' कहाँ से यह आया? पूछने पर गार्ग्य नहीं बता सका। सुषुप्ति में यह कहाँ था? यह प्रश्न आत्मा के स्वरूप क्रिया, कारक, फलादि से रहित असंसारी बोधन कराने के उद्देश्य से था, क्योंकि जागने से पहिले वह कर्मादि रहित शुद्ध बीज रूप ही था। अपने स्वरूप से च्युत होकर ही संसारी क्रिया कारकादि स्वभाववान् प्रतीत होता है। किन्तु गार्ग्य यह नहीं समझ सका ॥१६।१।२

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमय पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञाने विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथ है तत्पुरुषः

स्वपिति नाम तद् गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाक्, गृहीतं चक्षुः, गृहीतं श्रोत्रं, गृहीतं मनः ।।१७।१।२

अजातशत्रु बोले **'यत्रैष एतत्सुषुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमय पुरुष क्वैष तदाऽभूत् कुत एतदागादिति यदपृच्छामः तच्छृणु' ।**

जो यह विज्ञानमय पुरुष सोया हुआ था, उस समय कहाँ था ? कहाँ से आया ? यह बात जो मैंने पूछी थी, उसे सुनो ।

जिस समय यह सोया था, उस समय अन्तःकरण में होने वाले वागादि इन्द्रियों के सामर्थ्य को उपाधिजनित विशेष विज्ञान से ग्रहण कर हृदय के मध्य परमाकाश में सोया हुआ था । वह स्वाभाविक असंसारी स्वात्माकाश न केवल आकाश है, अपितु सत् स्वरूप ही है, अर्थात् सुषुप्ति में सत् से सम्पन्न था **'सता सोम्य सदा सम्पन्नो भवति ।'** इति श्रुतिः । जिस समय वह देहेन्द्रिय की अध्यक्षता को छोड़ कर स्वस्वरूप में स्थित होता है, उस समय उसका नाम 'स्वपिति' 'स्वमेवात्मानमपित्यपगच्छति' । यह गौण नाम प्रसिद्ध होता है । जिस समय 'स्वपिति' इस नाम वाला होता है, उस समय आत्मा का स्वरूप सम्पूर्ण सासांरिक धर्मों से विलक्षण जान पड़ता है । उस अवस्था में गृहीत प्राण, गृहीत घ्राण, गृहीत वाक्, गृहीत चक्षु गृहीत श्रोत्र, गृहीत मन होता है । असंसारी—सर्वविध सांसारिक धर्मों से रहित होता है । और जब वागादि इन्द्रियों से सांसारिक अध्यासिक सम्बन्ध होता है, तब संसार के धर्म से युक्त प्रतीत होने लगता है ।।१७।१।२

तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ।।१९।४।२

—विशेषोपसंहारः

यह जो ब्रह्म है, वही आत्मा है । यह आत्मा अपूर्व अर्थात् कारण-रहित है, कार्यरूप भी नहीं है, अबाह्य है, अनन्तर है, सर्वानुभू—सर्वात्मा होने से सबका अनुभवकर्ता है, यही सब वेदान्तों का अनुशासन—उपदेश है ।

अर्थात् **आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्पर-मस्ति अथ नामधेयँ सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥६।३।२**

आत्मा सत्य का भी सत्य है, श्रुति 'नेति नेति' से उसका निर्देश करती है अर्थात् नाम,रूप,कार्य और गुण के द्वारा शब्द की प्रवृति होती है, ब्रह्म नाम-रूपादि सर्वोपाधिरहित है, लोक में जैसे गौ, अश्व, रक्त, पीत आदि नाम-रूपात्मक विशेषणों द्वारा वस्तु का निर्देश किया जाता है, उसी प्रकार अध्यारोपित नाम-रूप से 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि शब्दों से ब्रह्म का श्रुति निर्देश करती है, किन्तु जब सर्वोपाधिशून्य निर्विशेष ब्रह्म का कथन करना अभीष्ट होता है,तब नेति नेति से उसका उपदेश करती है। प्रथम नेति से कारण और द्वितीय नेति से कार्य का अपवाद करके कार्यकारणातीत सर्वोपाधिशून्य निर्विशेष 'सत्यस्य सत्यं' सर्वविषेधावधि ब्रह्म का बोध करा देती है। ब्रह्म सत्य का भी सत्य है, सत्य प्राण है, ब्रह्म प्राण का भी प्राण है, अतः सत्य का भी सत्य है ॥६।३।२

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मँ शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदँ सर्वम् ॥१।५।२

यह पृथिवी ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त भूतों का मधु कार्य है। यह मधु के समान मधु है। जैसे एक मधु के छाता का अनेक मधु-मक्खियों के द्वारा निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार यह पृथिवी भी समस्त भूतों के कर्म द्वारा निर्माण की गयी है तथा समस्त भूत इस पृथिवी से निर्मित कार्य हैं। इस पृथिवी में जो तेजोमय अमृतमय पुरुष है वह समस्त भूतों का उपकारक होने के कारण मधु है और समस्त भूत उसके मधु हैं, यह अर्थ 'यश्चायमस्याम्' में पठित 'च' शब्द के सामर्थ्य से सम्पन्न हुआ समझना चाहिए एवं एतच्चतुष्टयं तावदेकं भूतकार्यं, इस प्रकार चारो मधु समस्त भूतों के कार्य हैं और समस्त भूत इन चारो मधु के कार्य हैं। तात्पर्य यह है कि पृथिवी,भूत, पार्थिव-

पुरुष और शारीर पुरुष—इन सबका कारण वही है जो यह आत्मा है, अमृत है, ब्रह्म है, यह सर्व है ।

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मनः समर्पिताः ॥१५।५।२

वह यह आत्मा—अविद्याकृत कार्य-करणसंघातरूप उपाधि से विशिष्ट जीव, जब ब्रह्मविद्या के द्वारा परमार्थ आत्मभाव को प्राप्त होकर अनन्तर 'अबाह्य' कृत्स्न प्रज्ञान घनभूत समस्त भूतों का आत्मा हो जाता है। जब समस्त भूतों का अधिपति एवं समस्त भूतों का राजा हो जाता है, जैसे रथ के नाभि और नेमि में सभी आरे समर्पित होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मात्मभूत आत्मा में सम्पूर्ण भूत, सम्पूर्ण देव, समस्त लोक, समस्त प्राण—ये सभी समर्पित हैं ।

यह पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्मविद्या से हम सर्व हो जाएँगे, ऐसा मनुष्य मानते हैं। उस ब्रह्म ने क्या जाना, जिससे ब्रह्म सर्वरूप बन गया ? उसका स्पष्टीकरण हो गया। इस प्रकार गुरु और शास्त्र से आत्मा का सर्वात्मभाव सुनकर तथा तर्क द्वारा मनन कर जो कि पहले भी ब्रह्म था, किन्तु अविद्या से अपने-आप अब्रह्म बना था तथा सर्व होते हुए भी असर्व था, अब वह ब्रह्मविद्या से अज्ञान दूर करके ब्रह्मवित् ब्रह्मरूप होते हुए भी ब्रह्म हो गया तथा सर्वरूप होते हुए भी सर्वरूप हो गया। इत्याद्यभ्यासः १।५।२ से १५।५।२ तक सम्पूर्ण मधु ब्राह्मण अभ्यास है, मूल देख लेना चाहिए।

यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्, केन कँ शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्, केन कं मन्वीत, केन कं विजानीयाद्येनेदँ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥१४।४।२ —अपूर्वता

परमार्थतः अद्वैत ब्रह्म में आत्मा से भिन्न, अविद्या-कल्पित देहेन्द्रिय संघातरूप उपाधि से जन्य विशेषात्मा—खिल्य भाव द्वैत—वस्त्वन्तर

के समान प्रतीत हो रहा है। जैसे चन्द्रादि का जल में पड़ा प्रतिबिम्ब चन्द्रादि से अन्यवत् प्रतीत् होता है। इसीलिए व्यवहार में अन्य, अन्य को सूँघता है। अन्य, अन्य को देखता है। अन्य, अन्य को सुनता है, प्रणाम करता है। अन्य, अन्य को मनन करता है। अन्य, अन्य को जानता है। किन्तु ज्ञानावस्था में जब अन्तःकरण विलीन हो जाता है तब सब आत्मा वैसे ही हो जाता है जैसे घटस्थ जल न रहने पर प्रतिबिम्ब बिम्बरूप हो जाता है। उस अवस्था में किससे किसको सूँघे, किससे किसको देखे, किससे किसको सुने, किससे किसको प्रणाम करे, किससे किसको मनन करे, किससे किसको जाने, जिससे यह समस्त जगत् जानते हैं उसको किससे जाने, हे मैत्रेयि ! विज्ञाता को किससे जाने।

"सर्वमात्मैवाभूत" स्वरूप साक्षात्कार होने पर सब आत्मा ही हो जाता है। —फलम्

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद, लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद, देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद, भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद, सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीँ, सर्वं यदयमात्मा ॥६।४।२ —अर्थवादः

ब्राह्मण जाति उसको दूर कर देती है, जो आत्मा से भिन्न ब्राह्मण जाति को मानता है; क्षत्रिय जाति उसको दूर कर देती है, जो आत्मा से भिन्न क्षत्रिय जाति को मानता है। लोक उसको दूर कर देता है जो आत्मा से भिन्न लोक को मानता है; देवता उसको दूर कर देते हैं, जो आत्मा से भिन्न देवता को मानता है; भूत उसे दूर कर देते हैं, जो आत्मा से भिन्न भूत को मानता है। सब उसको परा कर देते हैं, जो सबको आत्मा से भिन्न मानता है। यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देव, भूत और यह सब जो दृश्यसमूह है वह सब आत्मा ही है।६।४।२

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणा सर्वे लोका सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्॥२०।१।२—उपपत्ति

जैसे उर्णनाभि कीटविशेष यानि मकरी अपने-आपसे तन्तु को निकालती है तथा जैसे अग्नि से विस्फुलिङ्ग क्षुद्र चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही समस्त प्राण, समस्त लोक, सम्पूर्ण देवता, सम्पूर्ण भूत आत्मा से निकलते रहते हैं। उस आत्मा का यह उपनिषद् है, 'सत्यस्य सत्यम्' वह सत्य का भी सत्य है, प्राण सत्य है, उसका भी यह आत्मा सत्य है।२०।१।२

इति द्वितीयाध्यायः

—०००—

अथ तृतीयाध्यायः

एक समय राजा जनक ने बड़ी दक्षिणा वाला यज्ञ किया। उस यज्ञ में कुरु और पाञ्चाल देश के बहुत से विद्वान् ब्राह्मण इकट्ठे हुए। राजा जनक के मन में जिज्ञासा हुई कि इन ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ब्रह्मविद् कौन है। उन्होंने एक सहस्र गौओं के प्रत्येक शृंग में दश-दश पाद सुवर्ण बाँध कर उन ब्राह्मणों से कहा कि आप लोगों में जो ब्रह्मविद् हो, वह इन गौओं को ले जाये। किन्तु उन ब्राह्मणों में से किसी का साहस नहीं हुआ। तब महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने ब्रह्मचारी से कहा—हे सामश्रवा! इन गौओं को तुम आश्रम में ले जाओ। ब्रह्मचारी ले चला, तब वे सब ब्राह्मण बड़े क्रुद्ध होकर बोले—हम लोगों में तुम अपने को ब्रह्मिष्ठ मानते हो? इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा, **"नमो वयं ब्रह्मनिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयं स्म"** मैं ब्रह्मिष्ठों को नमस्कार करता हूँ। गौ-कामना से ही गौओं को लिवा जा रहा हूँ। तदनन्तर अनेकों ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ हुआ और उसी शास्त्रार्थ में उषस्त चाक्रायण नाम के ऋषि ने याज्ञवल्क्य से पूछा—

अथ हैनमुषस्त चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति ? होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व ? इत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽयमपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेन उदानिति स त आत्मा सर्वान्तरः एष त आत्मा सर्वान्तरः ।।१।४।३

हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तरात्मा है, उसकी व्याख्या करो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम्हारा आत्मा ही सर्वान्तर है। तात्पर्य यह कि यह जो तुम्हारा देहेन्द्रिय संघात जिस चैतन्य आत्मा के के द्वारा आत्मवान् है, वही सर्वान्तर है।

इस पर पुनः चाक्रायण ने प्रश्न किया—कतमो याज्ञवल्क्य ? इस प्रश्न का मतलब यह कि प्रथम पिण्ड है, उसके भीतर इन्द्रियाँ हैं और तीसरा वह है, जिसके विषय में सन्देह है। इनमें से आत्मा कौन है ? इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य बोले—'यः प्राणेन प्राणिति' जो मुख और नासिका में संचार करने वाले प्राण से प्राणन–चेष्टा क्रिया करता है, जो अपान से अपानन एवं जो व्यान से व्यानन और उदान से उदानन क्रिया करता है, वही तुम्हारा सर्वान्तर आत्मा है।

स होवाचोषस्त चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व इत्येवमेवैतद्व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः, न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयाः, न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः, न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः, एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्त चाक्रायण उपरराम ।।२।४।३

—उपक्रमः

उपर्युक्त व्याख्या सुनकर उषस्त चाक्रायण ने कहा जिस प्रकार कोई यह गौ है, यह अश्व है, प्रत्यक्ष दिखाता है, उसी प्रकार जो साक्षादपरोक्ष ब्रह्म आत्मा सर्वान्तर है, उसको बतलाओ। इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य बोले—घटादि विषय के समान आत्मा का विषय होना शक्य नहीं है, क्यों विषय नहीं होता ? तो इसका उत्तर यह कि (वस्तु स्वाभाव्यात्) वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है। **दृष्टेर्द्रष्टारं न पश्येः** आत्मा दृष्टि का द्रष्टा है; उसे देख नहीं सकते, श्रुति के श्रोता को सुन नहीं सकते, मति के मन्ता को मनन नहीं कर सकते, विज्ञाति के विज्ञाता को जान नहीं सकते हो। यही तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है। इससे अन्य सभी मर्त्य है।

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति ॥२८।९।३ —उपसंहारः

जो जगत् का मूल है, जिस शब्द से साक्षात् ब्रह्म का उपदेश किया जाता है, जिसके विषय में याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मणों से पूछा था, उसे स्वयं श्रुति हम लोगों के लिए उपदेश करती है।

विज्ञानं-विज्ञप्ति—विज्ञान नाम विज्ञप्ति का है, वह विज्ञान आनन्दस्वरूप है। विषयानन्द के समान दुःखानुविद्ध नहीं है, किन्तु प्रसन्न, शिव, अतुल, अनायास से नित्यतृप्त, एक रस है। वह विज्ञानानन्द स्वरूप ब्रह्म कर्मनिष्ठ धनदाता यजमानों का परायण अर्थात् परागति है और एषणारहित ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणों की भी परागति है ॥२८।९।३।

अथहैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। एतं तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा, या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणेव

भवतस्तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याऽथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याऽथ ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदार्तम् ॥१।५।३

कुषीतकी के पुत्र कहोल ने प्रश्न किया कि हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षादपरोक्ष ब्रह्म है, जो सर्वान्तर आत्मा है, उसकी व्याख्या करो ? यहाँ यह विशेष जानना चाहिए कि 'पूर्वस्मिश्च प्रश्ने कार्यकारणसंघातव्यतिरिक्तस्य केवलस्य आत्मनः सद्भावः कथ्यते, उत्तरस्मिस्तु प्रश्ने तस्यैवात्मनः अशनायादिसंसारधर्मातीतत्वं कथ्यते इति विशेषः' प्रथम प्रश्न याने उषस्त चाक्रायण के प्रश्न में कार्यकरण संघात से पृथक् केवल आत्मा के विषय में प्रश्न था और द्वितीय कहोल के प्रश्न में अशनायादि संसार धर्मातीत आत्मधर्मविषयक प्रश्न है। अतः एष त आत्मा यहाँ तक समान ही प्रश्न है।

याज्ञवल्क्य बोले—यह तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है। कहोल ने पूछा—कौन है? उत्तर में याज्ञवल्क्य बोले—जो अशनाया-पिपासा से रहित है। शोक–का अर्थ है काम, याने इष्टवस्तु के लिए चिन्तन करते हुए जो दुःख होता है,वही तृष्णा से अभिभूत काम है। इष्टं वस्तु दृश्यं चिन्तयतो यदरमणं तत्तृष्णाभिभूतस्य कामबीजं तेन हि कामो दीप्यते। मोह—विपरीत प्रतीति ही मोह है, जरा–देहेन्द्रिय संघात का परिणाम, भाव यह कि शोक, मोह, जरा, मृत्यु आदि समस्त संसार-धर्मों से रहित नित्य तृप्त आत्मा है और आत्मा ही ब्रह्म है। वही मैं हूँ **'अयमहमस्मि'** **'अहं ब्रह्मास्मि'** यह जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा–'पुत्रेण इमं लोकं जयेम' पुत्र से इस लोक के ऊपर विजय करूँगा, इस इच्छा का साधन दारसंग्रहादि तथा वित्तैषणा कर्मणा पितृलोकं, विद्यया देवलोकं' ये दोनों भी एषणा ही हैं। इन सब एषणाओं को त्यागकर भिक्षाचर्या से विचरते हैं। जो पुत्रैषणा है वही वित्तैषणा है, जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा है, क्योंकि ये सब एषणा ही हैं, एषणा का अर्थ है काम "एतत्रान् वै कामः" अतः ब्राह्मण पाण्डित्य–आत्मज्ञान प्राप्त करके आत्मज्ञान के बल से स्थित हो जाय। बाल्य और पाण्डित्य सम्पादन करके मुनि होता है। अमौन और मौन आत्मज्ञान और अनात्म ज्ञान

का तिरस्कार ही पाण्डित्य और वाल्यभाव है। इससे ब्राह्मण कृतकृत्य हो जाता है। वह किस प्रकार ब्राह्मण होता है? जिस प्रकार भी हो, ऐसा ही ब्राह्मण होता है। इससे अन्य सब आर्त्त नाशवान् हैं ।।१।५।३

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यामन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिव्यामन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।।३।७।३

जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी के भीतर है, पृथिवी अधिष्ठात्री देवता जिसको नहीं जानती हैं। अधिष्ठात्री देव ही जिसका शरीर है, जो पृथिवी देव में रहकर पृथिवी देव का नियमन करता है, वही तुम्हारा आत्मा है, अन्तर्यामी है, अमृत है।

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपामन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।।४।९।३

जो जल में रहता हुआ जल के भीतर है, जल के अधिष्ठाता देव भी जिसको नहीं जानते, जल के अधिष्ठाता देव ही जिसके शरीर हैं, जो जल के देव में रहकर जलदेव का नियमन करता है। वही तुम्हारा आत्मा है, अन्तर्यामी है, अमृत है। अन्तर्यामी ब्राह्मण २३ पर्यन्त मन्त्र देख लें।

उसी शास्त्रार्थ में गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा—कस्मिन्नु खलु आकाश ओतश्च प्रोतश्च। आकाश किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञवल्क्य वोले—हे गार्गि! जिस आकाश के विषय में तुमने पूछा है कि आकाश किसमें ओतप्रोत है, वह सुनो।

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा वदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमवाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन ।।८।८।३

—इत्याद्यभ्यासः

ब्राह्मण—ब्रह्मविद् उस तत्त्व को अक्षर कहते हैं। वह न स्थूल है, न अणु है, न ह्रस्व है, न दीर्घ है, न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न सङ्ग है, न रस है, न गन्ध है, न चक्षु है, न श्रोत्र है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न अमात्र है, न भीतर है, न बाहर है; वह कुछ भी नहीं खाता और उसे कोई भी नहीं खाता है।

शाकल्य के साथ शास्त्रार्थ में शाकल्य द्वारा अनेकों प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य ने पूछा ?

तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न वक्ष्यति मूर्धा ते निपतिष्यतीति त ँ ह न मेने शाकल्यस्तस्य मूर्धा निपपातापि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यं मन्यमानाः ।।२६।९।३ —अपूर्वता

उस औपनिषद् पुरुष को पूछता हूँ; यदि मुझसे विशेष रूप से नहीं बतलाओगे, तो तुम्हारा मस्तक गिर जाएगा। शाकल्य उस पुरुष को नहीं जानता था, अतः नहीं बतला सका, तो उसका मस्तक गिर गया और चोर लोग उसके हड्डी को (धन) समझकर चुरा ले गये। तात्पर्य यह कि सज्जनों से दुराग्रह करने का परिणाम अनिष्ट होता है।

रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति ।।२८।९।३१ —फलम्

वह परमात्मा धन दान करने वाले यजमानों की परागति है और एषणारहित ब्रह्मविदों की भी परागति है।

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माँल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माँल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः ।।१०।८।३ —अर्थवादः

हे गार्गि ! इस लोक में जो व्यक्ति इस अक्षर ब्रह्म को न जानकर हजारों वर्ष तक हवन, यज्ञ और तपस्या करता है उसका किया हुआ सब कर्म नाशवान् ही होता है। तथा जो व्यक्ति इस अक्षर ब्रह्म को बिना जाने ही मर जाता है, वह तो कृपण है, ही लेकिन जो ब्रह्म को जानकर मरता है वही ब्राह्मण है।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ? निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सराः इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गिः ? प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ? ददतो मनुष्या प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वी पितरोऽन्वायत्ताः ॥९।८।३ —उपपत्तिः

यह जो सर्वान्तर साक्षादपरोक्ष ब्रह्म है, जो अशनाया-पिपासादि सांसारिक धर्मों से रहित सर्वात्मा है, हे गार्गि ! इसी अक्षर के प्रशासन में सूर्य चन्द्रमा धारण किये स्थित हैं। यह सूर्य चन्द्रमा ईश्वर होने पर भी इसी अक्षर के द्वारा निर्मित और विधृत होकर नियत देश, काल-निमित्त (प्राणियों के अदृष्ट) से उदित और अस्त होते रहते हैं, इसी अक्षर के प्रशासन में द्युलोक धारण किये हुए हैं। हे गार्गि ! इसी अक्षर के प्रशासन में निमेष, मुहूर्त, दिन, रात्रि, अर्धमास (पक्ष) मास, ऋतु और सम्वत्सर धारण किये स्थित हैं। हे गार्गि ! इसी अक्षर के प्रशासन में पूरब ओर वहने वाली तथा अन्य नदियाँ जो श्वेत पर्वत से बहती हैं एवं जो अन्य पश्चिम से और अन्य दिशाओं से प्रवाहित होने वाली नदियाँ बहती है। इसी अक्षर के प्रशासन में मनुष्य, दान करने वाले दाता की प्रशंसा करते हैं और इसी अक्षर के प्रशासन में यजमान, देवता और पितृगण दर्वी होम का अनुसरण करते हैं।

इति तृतीयोऽध्यायः

अथ चतुर्थोऽध्यायः

तृतीय अध्याय में जो औषनिषद पुरुष नेति नेति से बतलाया गया है, उसका साक्षादपरोक्ष और उपादान कारण रूप से विज्ञानमानन्दम् इत्यादि से निर्देश किया गया है, अब उसी का वागादि देवोपासना के द्वारा अधिगम करना है, इसीलिये चतुर्था याय का प्रारम्भ करते हैं।

एक समय सम्राट् जनक अपने सिंहासन पर बैठे थे, उसी समय महर्षि याज्ञवल्क्य जी आये। जनक ने उनका यथाविधि पूजन करके पूछा—क्या आप पशु (गौ) की इच्छा से आए हैं या सूक्ष्म वस्तु के निर्णयान्त प्रश्न को सुनने आए हैं? उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा—(उभयमेव सम्राट्) दोनों वस्तु के लिए महाराज !।

याज्ञवल्क्य ने कहा—किसी आचार्य ने आपसे जो कुछ कहा है, उसे आप सुनावें। आपने बहुत आचार्यों की सेवा की है।

तदनन्तर जनक ने कहा कि महर्षि शैलिनी ने वाग् की ही ब्रह्म रूप से उपासना बतलाई है। इस पर याज्ञवल्क्य ने पूछा—क्या उन्होंने आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाई है? जनक ने कहा—नहीं, तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि यह एक पाद ही ब्रह्म है,पुनः जनक के पूछने पर आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाई। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा उनमें प्राण ब्रह्म, चक्षुः ब्रह्म, श्रोत्र ब्रह्म, मनो ब्रह्म, हृदय ब्रह्म की उपासना जनक जी ने सुनी, किन्तु आयतन और प्रतिष्ठा किसी ने नहीं कही, याज्ञवल्क्य ने क्रम से सबके आयतन और प्रतिष्ठा का उल्लेख किया। तब जनक ने अपने सिंहासन से उठकर याज्ञवल्क्य के समीप जाकर प्रणाम किया और कहा कि हे भगवन्! (अनु मा शाधीति) मुझे उपदेश करें? याज्ञवल्क्य बोले—हे सम्राट्! लम्बे मार्ग में जाने वाला व्यक्ति जिस प्रकार नाव या रथ का आश्रय लेता है, उसी प्रकार अधीतवेदोपनिषद्, श्रीमान् और उपासनाओं से समाहित-चित्त आप इस देह के छूट जाने पर रथ स्थानीय अधीत वेद उषनित्क समाहित चित्त से कहाँ जायेंगे, अर्थात् किस तत्त्व को

प्राप्त करेंगे ? उत्तर में जनक ने कहा—नहि वेद भगवन् यत्र गमिष्यामि । याज्ञवल्क्य बोले—शृणु यत्र गमिष्यसि ।

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ।।२।२।४

इन्ध यह नाम है । पहिले जिस आदित्यान्तर्गत पुरुष को (चक्षुर्वै ब्रह्म) चक्षु ही ब्रह्म है, ऐसा वर्णन किया गया है, वही यह है, जो दक्षिण नेत्र में पुरुष स्थित है । दीप्ति गुण वाला होने से इसका प्रत्यक्ष नाम इन्ध है । इन्ध यह नाम होने पर भी परोक्ष रूप से इसे इन्द्र कहते हैं, क्योंकि देवता परोक्षप्रिय होते हैं । वे प्रत्यक्ष नाम-ग्रहण से द्वेष करते हैं ।

अथ एतद्वामेऽक्षिणि पुरुषरूपमेषास्य पत्नी विराट् तयोरेष संस्तावो य एष अन्तरहृदयाकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तरहृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः सञ्चरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तरहृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ।।३।२।४ —सामान्योपक्रमः

भोक्तास्वरूप इन्द्र की, वाम अक्षि में जो यह वैश्वानरात्मा पुरुष है, वह पत्नी है अर्थात् भोग्य होने से अन्न है । वह अन्न और अत्ता स्वप्न में एक मिथुन होते हैं ।

इन्द्र और इन्द्राणी का यह संस्ताव प्रशंसा करने का स्थान है, यह जो कि हृदयान्तर्गत आकाश है और इन दोनों का भोज्य अन्न है । यह जो कि हृदय के भीतर लोहित पिण्ड है तथा इन दोनों का भोजन और सोते समय का प्रावरण है यानी आच्छादन है । यह जो कि अन्तर हृदय में जालक (नाडीछिद्रों के बहुतायत से जाल के समान)

जाल है। एवं इन दोनों की सृति, (सञ्चरणी) आने-जाने का मार्ग है, जो कि हृदय से ऊपर की ओर जाने वाली नाड़ियाँ हैं। वे नाड़ियाँ सहस्रों भागों में बटी हुई हैं तथा केशों के समान अत्यन्त सूक्ष्म हैं। स्थूल देह से सम्बन्ध रखने वाली 'हिता' नाम से विख्यात नाड़ी भी अत्यन्त सूक्ष्म है। ये सब हृदय के भीतर मांसपिण्ड में प्रतिष्ठित हैं, इन्हीं के द्वारा स्थूल शरीराभिमानी वैश्वानर को अन्न का सूक्ष्मांश तथा इससे भी अत्यन्त सूक्ष्मतर अंश सूक्ष्म देहाभिमानी तैजस को आहार रूप में प्राप्त होता है।

यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ सह कामप्रश्नमेव वव्रे तं ह सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ ॥१।३।४

याज्ञवल्क्य ! किं ज्योतिरयं पुरुष इति आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाचादित्येनैव ज्योतिषास्तेपल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ! ॥२।३।४ —सामान्योपसंहारः

किसी समय जनक के अग्निहोत्रविषयक ज्ञान से प्रसन्न होकर याज्ञवल्क्य ने वर दिया था, तब जनक ने इच्छानुसार प्रश्न ही वर माँगा था। उसी वरदान के सामर्थ्य से जनक ने पूछा—

हे याज्ञवल्क्य ! यह पुरुष किस ज्योति वाला है ? जिस ज्योति से व्यवहार करता है वह ज्योति क्या है ? तात्पर्य यह कि देहेन्द्रिय संघात वाला पुरुष अपने अवयवों के बाहर रहने वाली कोई अन्य ज्योति से व्यवहार करता है अथवा अवयवों के भीतर रहने वाली ज्योति से अपना कार्य पूरा करता है ?

इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा—आदित्य ज्योति से बैठता है, जाता है, कर्म करता है और लौट आता है। देहादि से भिन्न अथवा अभिन्न ज्योति के विषय में प्रश्न करने पर देहादि से व्यतिरिक्त—भिन्न ज्योति का प्रतिपादक लिङ्ग ही बतलाया।

पुनः जनक ने पूछा—आदित्य अस्त होने पर किस ज्योति से व्यवहार करता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—चन्द्रमा ज्योति से। पुनः

जनक ने पूछा—आदित्य और चन्द्रमा दोनों के अस्तमित होने पर किस ज्योति से व्यवहार करता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा— अग्निरूप ज्योति से । जनक बोले—सूर्य चन्द्रमा के अस्तमित होने पर एवं अग्नि के भी शान्त हो जाने पर किस ज्योति से व्यवहार होता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—वाग् ज्योति से । पुनः जनक ने पूछा—सूर्य चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर एवं अग्नि और वाग् के भी शान्त हो जाने पर कौन सी ज्योति है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—आत्मज्योति, उसी के द्वारा बैठता है, जाता है, कर्म करता है और लौट जाता है ।

तस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणा, दक्षिणा दिक् दक्षिणे प्राणाः, प्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणा, उदीची दिगुदञ्चः प्राणा, ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा, अवाची दिगवाञ्चः प्राणा, सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः । स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वागच्छताद्याज्ञवल्क्य ? यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि ।।४।२।४ —विशेषोपसंहारः

तस्यास्य विदुषः उस इस विद्वान् के लिये जो क्रमशः वैश्वानर से तैजस, तैजस से हृदयात्मा तथा हृदयात्मा से प्राणात्मभाव को प्राप्त हुआ है । प्राची दिशा पूर्वगत प्राण, दक्षिण दिशा दक्षिण प्राण, पश्चिम दिशा पश्चिम प्राण, उत्तर दिशा उत्तर प्राण, उर्ध्व दिशा उर्ध्व प्राण, अधो दिशा अधः प्राण और समस्त दिशा सम्पूर्ण प्राण हो जाता है । इस प्रकार क्रम से सर्वात्मक प्राण को आत्मरूप से प्राप्त हो जाता है और सर्वात्मा का प्रत्यगात्मा में उपसंहार करके द्रष्टा के द्रष्टृभाव को अर्थात् नेति नेति से निर्दिष्ट तुरीय आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है । वह आत्मा अगृह्य है, उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता एवं आत्मा अशीर्य है शीर्ण (नष्ट) नहीं होता; असङ्ग है, उसका संग नहीं होता । अबद्ध है, व्यथित नहीं होता और क्षीण भी नहीं होता है । याज्ञवल्क्य ने कहा—हे जनक ! तुम जरा-मरण-न्ब अभय ब्रह्मशू

को प्राप्त हो गये हो। जनक ने कहा—भगवन् ! ब्रह्मविद्या द्वारा अभय प्रदान करनेवाले आपको भी अभय ही प्राप्त हो। आपको मेरा नमस्कार है, यह विदेहराज आपका ही है और मैं भी आपका हूँ, यथेच्छानुसार प्राप्त करें।

'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरं रसयते, तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतरं शृणोति, तदितर इतरं मनुते, तदितर इतरं स्पृशति, तदितर इतरं विजानाति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं पश्येत्, तत् केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्, तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत, तत्केन कं स्पृशेत्, तत्केन कं विजानीयाद्येनेदं सर्वं विजानाति तेन कं विजानीयात्स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्जतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनासि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥१५।५।४

यह आत्मा नित्य, शुद्ध, पूर्णस्वरूप है, एक है। अविद्या अवस्था में द्वैत के ऐसा भान होता है। इस अविद्या अवस्था में अन्य अन्य को देखता है। अन्य अन्य का गन्ध ग्रहण करता है। अन्य अन्य का रसास्वादन करता है। अन्य अन्य से बोलता है। अन्य अन्य को सुनता है। अन्य अन्य का मनन करता है। अन्य अन्य का स्पर्श करता है। अन्य अन्य को जानता है। किन्तु जब ब्रह्मविद्या से अविद्या और तत्कार्य निवृत्त हो जाता है, सम्पूर्ण आत्मरूप ही हो जाता है; तब किससे किसको देखे, किससे किसको सूँघे, किससे किसका आस्वादन करे, कौन किससे बोले, किससे किसको सुने, किससे किसका मनन करे, किससे किसका स्पर्श करे, किससे किसको जाने, जिसके द्वारा सबको जानते हैं, उसको किससे जाने, वही यह आत्मा नेति नेति से निर्देश किया गया है। वह आत्मा अगृह्य है, ग्रहण नहीं

किया जा सकता, वह अविनाशी है, उसका विनाश नहीं होता, असङ्ग है, किसी से उसका संग नहीं होता, बन्धरहित है, दुःखी नहीं होता और वह क्षीण भी नहीं होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे मैत्रेयि! विज्ञाता को किससे जाने—इतना ही अमृत है, इतना ही उपदेश है। इतना कहकर याज्ञवल्क्य परिव्राजक हो गये।

तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥१६।४।४

वह आत्मा ज्योति का भी ज्योति है, अमृत है, उसकी देवगण आयुरूप से उपासना करते हैं।

यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव-मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥१७।४।४

जिस ब्रह्म में पाँच पञ्चजन—गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस प्रतिष्ठित हैं। अथवा 'निषादपञ्चमा वर्णाः' निषाद है पञ्चम जिसमें, ऐसे ब्राह्मण आदि वर्ण जिसमें प्रतिष्ठित हैं तथा आकाश जिसमें प्रतिष्ठित है, उस आत्मा को अमृतस्वरूप ब्रह्म मैं मानता हूँ।

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युः,ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ॥१८।४।४

जो प्राण का भी प्राण, चक्षु का भी चक्षु, श्रोत्र का भी श्रोत्र और मन का भी मन है; उस पुराण—पुरातन अग्र होने वाले अर्थात् प्रथम पुरुष को ब्रह्मवेत्तृ गण 'निचिक्युः' निश्चय ही जानते हैं।

स वा एष महान् अज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवाऽसाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुः विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्धस्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः

प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे व भवतः। स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येत मु हैं वं तेन तरत इत्यत पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ है वैष एते तरति नैनं कृता कृते तपतः ॥२२।४।४

'स' यह सर्वनाम है, यह पूर्वोक्त ब्रह्म का परामर्श करता है। स यानी वह, कौन ? 'य एष विज्ञानमयः' जो पहले जनक के प्रश्न में 'कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इत्यादि वाक्यों से प्रतिपादित स्वयंज्योति आत्मा है, उसका यहाँ 'स' शब्द से कथन किया गया है तथा 'य एषो अन्तरहृदये' जो हृदय कमल में विज्ञान के आश्रयभूताकाश में विज्ञान सहित सोता है। जिसके विषय में द्वितीयाध्याय में क्व 'एष तदभूत्'।

इस प्रश्न के उत्तर में वर्णन किया गया है, उसी इस महान् अज आत्मा के वश में सम्पूर्ण प्राणी हैं, वही सबका ईशान यानी शासन करने वाला है, वही सबका अधिपति है, वह न साधु कर्मों से बढ़ता है, न असाधु कर्मों से न्यून होता है, वही सबका ईश्वर है, वही सब भूतों का अधिपति है, वही सब भूतों का पालन करने वाला है एवं सम्पूर्ण लोकों की मर्यादा को धारण करने वाला है, वह सेतु के समान सेतु अर्थात् वर्णाश्रम का व्यवस्थापक है। इस प्रकार प्रतिपादित उस औपनिषद पुरुष को ब्राह्मण लोग नित्य वेद के स्वाध्याय, यज्ञ, दान, तप और उपवास से जानने की इच्छा करते हैं। क्योंकि 'सह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियत इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयत' 'विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः'। इत्यादि श्रुति-स्मृतियों से विदित होता है कि निष्काम नित्य और और नैमित्तिकादि कर्मों से अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्धान्तःकरण में ही आत्मस्वरूप का बोध होता है। . . . .

इसी आत्मतत्त्व को जानकर मुनि होता है। इस आत्मलोक की इच्छा करने वाले त्यागी सब कुछ त्यागकर परिव्राजक हो जाते हैं। लोक में प्रसिद्ध है—भूतकाल में जो विद्वान् आत्मज्ञ थे, वे इस लोक तथा 'कर्मणा पितृलोकः' 'विद्यया देवलोकः' पितृलोक और देवलोक के साधनों की इच्छा नहीं करते थे। वे कहते थे कि आत्मलोक की इच्छा वाले मुझको प्रजा से क्या प्रयोजन है, मुझे तो आत्मलोक ही चाहिए। यह विचार कर वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा का त्याग कर भिक्षाचर्याचरण करते थे। जो पुत्रैषणा है वही वित्तैषणा है, जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है। ये सब एषणा ही हैं।

नेति नेति से निर्दिष्ट आत्मा अगृह्य है, ग्रहण नहीं किया जाता, अविनाशी है, उसका नाश नहीं होता, असङ्ग है किसी में आसक्त नहीं होता। वह बन्धरहित है एवं अव्यथित तथा अक्षय है। आत्मज्ञ को पाप-पुण्यनिमित्तक शोक नहीं होता। मैंने पाप किया है, इसका पश्चात्ताप और मैंने पुण्य किया है इसका हर्ष भी नहीं होता। वह कृताकृत दोनों को पार कर जाता है।

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते, कर्मणा पापकेनेति। तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति, सर्वात्मानं पश्यति, नैनं पाप्मा तरति, सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तपति विपापो विरजो विचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्यामीति ॥२३।४।४

सम्पूर्ण एषणाओं का परित्याग कर देने वाले ब्रह्मवित् ब्राह्मणों की विलक्षण महिमा है। कर्म द्वारा सम्पन्न होने वाली अन्यों की महिमा अनित्य है, किन्तु ब्रह्मवित् की महिमा नित्य है। यह न शुभ कर्मों से बढ़ती है, न अशुभ कर्मों से घटती है, अतः उसकी महिमा 'पदवित् पद्यते गम्यते-ज्ञायते महिम्नः स्वरूपमेव पदं'। पद का अर्थ है स्वरूप, तात्पर्य यह है कि उस नित्य महिमा को स्वरूपतः जानना

चाहिए। स्वरूप जानकर पुरुष धर्माधर्म से लिप्त नहीं होता 'न लिप्यते कर्मणा पापकेन' ज्ञानी की दृष्टि में धर्माधर्म दोनों बन्धन के हेतु होने के कारण पाप ही हैं। इस प्रकार ब्रह्मवित् शान्त–ब्रह्येन्द्रिय व्यापार से उपरत, दान्त—अन्तःकरण की तृष्णा से रहित उपरत सर्वेषणा से विनिर्मुक्त, तितिक्षु–सुख-दुखादि द्वन्द्वसहिष्णु समाहित, इन्द्रिय और मन की चञ्चलता से रहित—एकाग्र मन से देहेन्द्रिय संघात में प्रत्यक् चैतन्य आत्मा को देखता है (आत्मन्येव स्वे कार्यकरणसंघाते आत्मानं प्रत्यक् चेतयितारं पश्यति) सबको आत्मा ही देखता है, उसको पुण्य-पाप का दोष नहीं लगता, पाप पुण्य से तर जाता है, यानी पाप-पुण्य उस ब्रह्मवित् को ताप नहीं देते, वह सम्पूर्ण पापों को तपा देता है, धर्माधर्म से रहित विरज सम्पूर्ण कामनाओं से रहित हो जाता है। अविचिकित्स छिन्नसंशय होकर ब्राह्मण हो जाता है। हे सम्राट् ! यह ब्रह्मलोक है, तुम उसे प्राप्त हो चुके हो। उत्तर में जनक ने कहा—मैं आपके लिये यह विदेह देश देता हूँ तथा अपने को भी आप की सेवा में अर्पण करता हूँ ॥२३।४।४

स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभय ँ हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ॥२५।४।४

—इत्याद्यभ्यासः

प्रकरण में प्रतिपादित ब्रह्म महान्, अज, आत्मा, अजर, अमर, अमृत और अभय है, इस प्रकार अभय ब्रह्मस्वरूप को जो जानता है, वह अभय ब्रह्म ही हो जाता है।

येनेद ँ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्जतेऽसितो न व्यथते न रिष्यते विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनासि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥१५।५।४

—अपूर्वता

जिस आत्मा के द्वारा सबको जानते हैं, उसको किससे जाने। वह अगृह्य है, उसका ग्रहण नहीं होता। वह अविनाशी है उसका विनाश

नहीं होता। वह बन्धन रहित है, अतः किसी में वह आसक्त नहीं होता, इत्यादि पूर्ववत् जानना।

तं न पश्यति कश्चन ॥१४।३।४ —अपूर्वता

उसको दृश्य रूप से कोई नहीं देखता।

तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्त-मस्य। प्राप्यन्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् तस्मा-ल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथा-कामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आप्तकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥६।४।४ —अपूर्वता

मन-प्रधान लिङ्गशरीर से आसक्त होकर यानि फलाभिलाषी होकर जिस कर्म को करता है, उस कर्म के साथ ही कर्म-फल को प्राप्त कर फल भोगता है, कर्म-फल समाप्त हो जाने पर उस लोक से पुनः कर्म करने के लिये इस लोक में आ जाता है। 'अथाकामयमानो' 'अकामस्य हि क्रियानुपपत्तेरकामीयमानो मुच्यत एव' कामना-रहित से क्रिया नहीं बन सकती। क्रियाहीन होने से वह मुक्त ही हो जाता है, अतः वह निष्काम कहलाता है, निष्काम होने से आप्तकाम होता है, जो आप्तकाम होता है, वही आत्मकाम होता है। आत्मकाम का प्राणोत्क्रमण नहीं होता। ब्रह्म होते हुए ही ब्रह्म को प्राप्त करता है, अर्थात् पहिले भी ब्रह्म था, लेकिन अविद्या से अपने को अब्रह्म (संसारी) मान रहा था। ब्रह्मविद्या से अविद्या निवृत्त होने पर अखण्ड अनन्त अपने ब्रह्मस्वरूप को वह पुनः प्राप्त हो जाता है।

मनसैवानु द्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१९।४।४

—अर्थवादः

ब्रह्मज्ञान का साधन कहते हैं—परमार्थ ज्ञान से संस्कृत मन से आचार्योपदेशपूर्वक ब्रह्म का दर्शन करना चाहिए। उस ब्रह्म में नाना कुछ भी नहीं है, अर्थात् वह स्वगत, सजातीय और विजातीयभेदशून्य है। जो उस ब्रह्म में नाना देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु—जन्म-मरण प्रवाह में पड़ा रहता है।

यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टु-र्दृष्टेर्विपरि लोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् । न तु तद्द्वितीय-मस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ॥२२।३।४ —अर्थवादः

जो सुषुप्ति में नहीं देखता है, वह निश्चय ही देखता हुआ भी नहीं देखता है, क्योंकि द्रष्टु—दर्शन-क्रिया का जो कर्ता है उसकी दृष्टि का विनाश नहीं होता। आत्मा नित्य अविनाशी है, अतः उसकी दृष्टि भी नित्य अविनाशी है। वहाँ सुषुप्ति अवस्था में उस द्रष्टा से अन्य—पृथक् रूप से विभक्त दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिसको देखे।

विशेष दर्शन का कारण अविद्यारचित अन्तःकरण है। सुषुप्ति में आत्मा सत् से सम्पन्न हो जाता है, अतः अन्तःकरण लीन हो जाता है। सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवतीति श्रुतेः।

स होवाच न वाऽरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति, न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्ति, न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति, न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति, न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवत्या-त्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति, न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रियाः भवन्ति, न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्या-त्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति, न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं

परिशिष्टम्—२

सिद्धान्तवाक्यानि

प्रमाणप्रकरणम्

(१) स्वविषये शूराणि हि प्रमाणानि भवन्ति श्रोत्रादिवत् । वृ० १।१।२०

(२) न च दृष्टमनुपपन्नं नाम दृष्टत्वादेव ।

(३) नहि प्रत्यक्षं अनुमानेन बाधितुं शक्यते ।

(४) न च अनुमानं प्रत्यक्षविरोधे प्रामाण्यं लभते ।

(५) न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते ।

(६) प्रमाणान्तराविषयमेव प्रमाणान्तरेण ज्ञाप्यते ।

(७) श्रुतिविरोधे न्यायाभासत्वोपगमात् ।

(८) यतः स्वतोऽप्राप्तं तच्छास्त्रेण बोधितव्यम् ।

(९) श्रुतिश्च नोऽतीन्द्रियविषये ज्ञानोत्पत्तौ निमित्तम् ।

(१०) श्रुतिश्च नः प्रमाणं अतीन्द्रियविषयविज्ञानोत्पत्तौ ।

(११) शास्त्रहेतुत्वात् धर्माधर्मविज्ञानस्य ।।ब्र० २५–३।१ ।

(१२) न वाक्यस्य वस्त्वन्वाख्यानं क्रियान्वाख्यानं वा प्रामाण्याप्रमाणकारणम् ।

(१३) किं तर्हि ? निश्चितफलवद्विज्ञानोत्पादकत्वम्, तद्यत्रास्ति तत्प्रमाणवाक्यं, यत्र नास्ति तदप्रमाणम् । १–४।७ वृ० ।

(१४) वस्तुप्रतिपादनं तत्परत्वं सिद्धं शास्त्राणाम् । शास्त्रादिदमेव भवति, इदमिष्टसाधनं इदमनिष्टसाधनमिति साध्यसाधनसम्बन्धविशेषाभिव्यक्तिः । २।१–२० वृ० ।

(१५) ज्ञापकं हि शास्त्रं न तु कारकमिति स्थितिः ।

(१६) वेदस्य निरपेक्षस्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये ।

(१७) न पारमार्थिकं वस्तु कर्तुं निर्वर्तयितुं वा अर्हति ब्रह्मविद्या १०।१।४ ।

(१८) नहि प्रत्यक्षविरोधे श्रुतेः प्रामाण्यम् । नहि श्रुतिशतमपि शीतोऽग्निः, अप्रकाशः इति ब्रुवत् प्रामाण्यमुपैति ।

(१९) श्रुतेः ज्ञापकात् न शास्त्रं पदार्थान् अन्यथा कर्तुं प्रवृत्तं, किन्तर्हि यथाभूतानामज्ञातानां ज्ञापने ।

(२०) न च वचनं वस्तुनः सामर्थ्यजनकम् १०।१।४ वृ० ।

(२१) न तु शास्त्रं भृत्यानिव बलात् निवर्तयति नियोजयति वा, दृश्यन्ते हि पुरुषाः रागादिगौरवात् शास्त्रं अतिक्रामन्तः २०।२।१ बृ०।

(२२) पुरुषाः स्वयमेव यथारुचिसाधनविषयेषु प्रवर्तन्ते, शास्त्रं तु सवितुः प्रकाशवत् उदास्त एव २०।२।१ बृ०।

(२३) अस्माकं अप्रत्यक्षमपि चिरंतनानां प्रत्यक्षम्। बृ०

(२४) मन एव केवलं रूपज्ञाननिमित्तं योगिनाम्।१।४।१

(२५) न वस्तुयथार्थज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्।

(२६) अविपरीतार्थप्रतिपत्तेः श्रेयः प्राप्त्युपपत्तिः लोकवत्।

(२७) अविपरीतबोधात् श्रेयः प्राप्तिः, विपर्ययेऽनिष्टप्राप्तिदर्शनात्।

(२८) निगडे हि नियति निगडितस्य मोक्षाय यत्नः कर्तव्यो भवति।

कर्मप्रकरणम्

(२९) अविद्वद्विषयं कर्म।

(३०) क्रिया हि सा यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते। पुरुषचित्त-व्यापाराधीना च। यथा यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तं मनसा ध्यायेत् वषट् करिष्यन्। संध्यां मनसा ध्यायेत् इति चोदनातन्त्रा च। १।१।४

(३१) विधिप्रतिषेधाश्च अत्र (कर्मणि) अर्थवन्तः स्युः, क्रिया च नाम रूपसाध्याप्राणसम्बन्धिनी।

(३२) प्रागात्मविज्ञानात् प्रवृत्त्युपत्तेः।

अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः।
अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः।

(३३) तस्मात्स्वाभाविकमेव अविद्यायुक्ताय रागादिदोषवते यथा-भिमतपुरुषार्थसाधनं कर्म उपदिशत्यग्रे।

(३४) आत्मविशेषानभिज्ञः कर्मफलसंजाततृष्णः श्रद्दधानतया च प्रवर्तते इति सर्वेषां नः प्रत्यक्षम्।

(३५) अविद्याकृतकर्तृत्वमुपादाय विधिशास्त्रं प्रवर्तिष्यते।

(३६) देहाद्यात्मबुद्धिः अविद्वान् रागद्वेषादिप्रयुक्तो धर्माधर्मानु-ष्ठानकृत्।

(३७) नहि कर्मकाण्डेन पर आत्मा प्रकाशते, कृतस्य क्षयित्वात्।

(३८) सात्त्विकस्यापि कर्मणः अनात्मवित् साहंकारः कर्ता।

(३९) नापि ज्ञानस्य कर्मसाहाय्यापेक्षा अविद्या निवर्तकत्वेन विरोधात्।

भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे, श्रुते, मते, विज्ञात इदं सर्वं विदितम् ।।६।५।४

—उपपत्तिः

याज्ञवल्क्य बोले—हे मैत्रेयी ! निश्चय है कि पति के लिए पति प्रिय नहीं होता, किन्तु अपने लिए पति प्रिय होता है । जाया के लिए जाया प्रिय नहीं होती, किन्तु अपने लिए जाया प्रिय होती है । पुत्र के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता, किन्तु अपने लिए पुत्र प्रिय होता है । धन के लिए धन प्रिय नहीं होता है, किन्तु धन अपने लिए प्रिय होता है, पशुकामना से पशु प्रिय नहीं होता, किन्तु अपने लिए पशु प्रिय होता है । ब्रह्म के लिए ब्रह्म प्रिय नहीं होता, किन्तु अपने लिए ब्रह्म प्रिय होता है । क्षत्र के लिए क्षत्र प्रिय नहीं होता किन्तु अपने लिए क्षत्र प्रिय होता है । लोक के लिए लोक प्रिय नहीं होते, किन्तु लोक अपने लिए प्रिय होते हैं । देवताओं के लिए देवता प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने लिए देवता प्रिय होते हैं । वेदों के प्रयोजन से वेद प्रिय नहीं होते, किन्तु अपने प्रयोजन से वेद प्रिय होते हैं । भूतों के प्रयोजन से भूत प्रिय नहीं होते किन्तु भूत अपने लिए प्रिय होते हैं । हे मैत्रेयी ! अधिक क्या कहें, सबके लिये सब प्रिय नहीं होते, किन्तु सब अपने लिए प्रिय होते हैं । अतः हे मैत्रेयी ! आत्मा ही द्रष्टव्य है, आत्मा ही श्रोतव्य है आत्मा ही मनन, निदिध्यासन—ध्यान करने योग्य है । हे मैत्रेयि ! आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है ।।६।५।४।

यह समस्त उपनिषदों का संक्षेप में सार कहा गया है । इसी आत्म वस्तु के प्रबोध के लिए, आत्मा में उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयादि कल्पना तथा क्रिया, कारक और फल का अध्यारोप किया गया है और उस अध्यारोप को 'नेति नेति' इस वाक्य के द्वारा समस्त मूर्तामूर्त को अपोहन करके सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, ज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्मात्मैकत्व का बोध कराया गया है ।

श्री १०८ जगद्वन्द्यास्मद् गुरुचरणकमलेषु समर्पणमस्तु ।

परिशिष्टम्–१

तात्पर्यनिर्णयसाधनानि

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

उपक्रमोपसंहारौ

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्यादावन्ते प्रतिपादनम् ।
उपक्रमोपसंहारौ तदैक्यं कथितं बुधैः ॥१॥

अभ्यासः

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्य पठनञ्च पुनः पुनः ।
अभ्यासः प्रोच्यते प्राज्ञैः स एवावृत्तिशब्दभाक् ॥२॥

अपूर्वता

श्रुतिभिन्नप्रमाणेनाविषयत्वमपूर्वता ।
कुत्रचित्तत्स्वप्रकाशत्वमप्रमेयतयोच्यते ॥३॥

फलम्

श्रूयमाणं तु यज्ज्ञानं तत्प्राप्त्यादिप्रयोजनम् ।
फलं प्रकीर्तितं प्राज्ञैर्मुख्यं मोक्षैकलक्षणम् ॥४॥

अर्थवादः

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्य प्रशंसनमथापि वा ।
निन्दा तद्विपरीतस्य ह्यर्थवादः स्मृतो बुधैः ॥५॥

उपपत्तिः

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्य युक्तिभिः प्रतिपादनम् ।
उपपत्तिः प्रविज्ञेया दृष्टान्ताद्यैर्ह्यनेकधा ॥६॥

(४०) नहि तमस्तमसो निवर्तकम् । न मोक्षार्थानि कर्माणि ।

(४१) कर्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षः अभ्युपगम्यते अनित्यमेव स्यात् ।

(४२) न च धर्माधर्मयोः स्वरूपफलसाधनादिसमधिगमे शास्त्राति-रिक्तं कारणं शक्यं सम्भावयितुम् ।

(४३) विधिशास्त्रं तावत् यथाप्राप्तं कर्तृत्वमुपादाय कर्तव्यविशेष-मुपदिशति न कर्तृत्वमात्मनः प्रतिपादयति ।

(४४) नहि कर्मणोऽस्ति निःश्रेयःसाधनत्वम् ।

(४५) शास्त्रविहितविषयकर्ममार्गः बन्धहेतुः ।

(४६) धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे विषयेन्द्रियजन्यं ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धम् । ब्र० सू० ।

(४७) कर्मबीज अविद्याक्षेत्रो ह्यसौ संसारवृक्षो समूलमुद्धर्तव्यः तदुद्धरणे हि पुरुषार्थपरिसमाप्तिः । १।४–७ बृ०

(४८) यदेव प्रवृत्तिकारणं तदेव निवृत्तिकारणं न भवति ।

(४९) अविद्या सर्वात्मानं सन्तं असर्वात्मत्वेन ग्राहयति, सा च अविद्या न आत्मनः स्वाभाविको धर्मः ।

(५०) विविदिषोरपि सिद्धं पारिव्राज्यम् । लौकिको वैदिकश्च व्यव-हार उत्पन्नविवेकज्ञानस्य अविद्याकार्यत्वात् अविद्यानिवृत्तौ निवर्तते ।

(५१) मोक्षस्य अकार्यत्वात् मुमुक्षोः कर्म निरर्थकम् ।

(५२) बाह्यविषयरागाद्यपहृतचेतसो न शास्त्रं निवर्तयितुं शक्तम् ।

(५३)यद्यपि शास्त्रावगतं नित्यं कर्म तथापि अविद्यावत एव भवति ।

(५४) न च अग्निहोत्रदर्शपूर्णमास-पशुबंध-सोमानां कर्मणां स्वतःकाम्यनित्यत्वविवेकोऽस्ति कर्तृगतेन हि स्वर्गादिकामदोषेण कामार्थता १।२।१ पृ० ।

(५५) अवश्यं हि कृतं कर्म काम्यं नित्यं वा स्वं फलमारभत एव ।

(५६) नित्यस्य च कर्मणो वेदप्रमाणबोध्यत्वात् फलेन भवितव्यम्, अन्यथा वेदस्य आनर्थक्यप्रसंगात् ।

(५७) यस्तु अधिकृतं संगं फलाभिसंधिं च त्यक्त्वा नित्यं कर्म करोति तस्य फलरागादिना अकलुषीक्रियमाणं अन्तःकरणं नित्यैश्च कर्मभिः संस्क्रियमाणं विशुद्धयति । विशुद्धं प्रसन्नं आत्मावलोकन-क्षमं भवति ।

(५८) तस्यैष नित्यकर्मानुष्ठानेन विशुद्धान्तःकरणस्य आत्मज्ञाना-भिमुखस्य क्रमेण ज्ञाननिष्ठा ।

(५९) किं स्वकर्मणानुष्ठानादेव साक्षात्संसिद्धिः, न, स्वकर्मणा अन्तर्यामिणमीश्वरं पूजयित्वा केवलं ज्ञाननिष्ठानुष्ठानयोग्यतालक्षण-सिद्धिः भवति।

(६०) अभ्युदयार्थोऽपि प्रवृत्तिलक्षणो वर्णाश्रमदेवादिस्थानप्राप्ति-हेतुरपि सन् ईश्वरार्पणबुद्ध्यानुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्धये भवति फलाभि-संधिवर्जितः।

(६१) न परमात्मयाथात्म्यविज्ञानवतः शमोपायव्यतिरेकेण किञ्चित् कर्म विहितं उपलभ्यते। १।२।१ बृ०

(६२) विद्वद्विषया च सर्वकर्मन्यासपूर्वकज्ञाननिष्ठा।

उपासनाप्रकरणम्

(६३) उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्। उपासनं च यथाशास्त्रतुल्यप्रत्ययसन्ततिः, असंकीर्णा च अतत्प्रत्ययैः, शास्त्रोक्ता-लम्बनविषया च, प्रसिद्धश्च उपासनाशब्दार्थो लोके गुरुमुपासते, राजानमुपासते। तै० ५।३। अनुक।

(६४) उपासनं नाम यथाशास्त्रं उपास्यार्थस्य विषयीकरणेन सामीप्य-मुपगम्य तैलधारावत् समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यदासनम्।

(६५) तैलधारावत् सन्ततः, अविच्छिन्नप्रत्ययो ध्यानम्।

(६६) कर्तृत्वादिसर्वधर्मनिराकरणेन हि ब्रह्मणः आत्मोपदेशः तदनिराकरणेन च उपासनाविधानम्। अतश्चोपासकस्य प्रतीकैः सम-त्वात् आत्मग्रहो नोपपद्यते।४।१।४

(६७) उपासनानां क्रियात्मकत्वात्।

(६८) ये श्रोत्रिया स्थूलबुद्धित्वात् अजातिवस्तुनः सदा आत्मनाशं पश्यन्ति तेषां श्रद्धानानां सन्मार्गावलम्बिनां जात्युपलम्भकृता दोषा सिद्धिं नोपयास्यन्ति।

(६९) न हि अविकारे अनन्ते ब्रह्मणि सर्वैः पुंभिः शक्यं बुद्धिं स्थापयितुं मन्दमध्यमोत्तमबुद्धित्वात् पुंसामिति।

(७०) निर्गुणमपि ब्रह्म नामरूपगतैः गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्र उपदिश्यते एतदपि उक्तमेव। सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरुध्यते शलिग्राम इव विष्णोः।

(७१) रूपाधाररहितमेव ब्रह्मावधारयितव्यम् न रूपादिमत्, कस्मात् तत्प्रधानत्वात्। ब्र० सू०

(७२) इतराणि आकारब्रह्मवद्विषयाणि वाक्यानि न तत्प्रधानानि उपासनाविधिप्रधानानि हि तानि । तेषु असति विरोधे यथाश्रुत-माश्रयितव्यम् ।

(७३) द्वे विद्ये इत्यादि । परा च परमात्मविद्या । अपरा च धर्माधर्मसाधनतत्फलविषया । अपरा हि विद्या अविद्या, सा निरा-कर्तव्या, तद्विषये विदिते न किञ्चित् तत्त्वतो विदितं स्यात् । १।४ मु० ।

(७४) उपनिषद्विद्याक्षरविषयं हि विज्ञानमिह परा विद्या प्राधान्येन विवक्षिता न उपनिषच्छब्दराशिः । वेदशब्देन सर्वत्र शब्दराशिः विव-क्षितः । वेदशब्दराश्यधिगमेऽपि यत्नान्तरमन्तरेण गुर्वभिगमनादिलक्षणं वैराग्यं च नाक्षराधिगमः सम्भवतीति पृथक्करणं ब्रह्मविद्यायाः परा-विद्येति । १।५ मु० ।

(७५) मन्दमध्यमधियां तु प्रतिपन्नसाधकभावानां सन्मार्गगामिनां संन्यासिनां मात्राणां पदानां च क्लृप्तसामान्यविदां यथावदुपास्यमान ओंकारः ब्रह्मप्रतिपत्तये आलम्बनो भवति । १२–माण्डुक्य ।

(७६)ओं शब्दः वाच्यम्, ओं शब्दः प्रतीकं च ब्रह्म । अपरपरब्रह्मणोः हि प्रतीकं एतदक्षरम्, एतद्धि अक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् परं अपरं वा तस्य तद्भवति परं चेत् ज्ञातव्यं अपरं चेत् प्राप्तव्यम् । कठ व० १५।१६

(७७) आत्मनोऽशेषविशेषरहितस्यालम्बनत्वेन च प्रतीकत्वेन ओंकारो निर्दिष्टः अपरस्य च ब्रह्मणः मन्द-मध्यम-प्रतिपतॄन् प्रति । कण्ठ दि—१७

(७८) परं हि ब्रह्म शब्दाद्युपलक्षणार्हं सर्वधर्मविशेषवर्जितम्, अतो न शक्यम् अतीन्द्रियगोचरत्वात् केवलेन मनसा अवगाहयि-तुम् । प्र० ५।२

ओंकारे विष्ण्वादिप्रतिमास्थानीये भक्त्यावेशितब्रह्मभावे ध्यायमानं तत् प्रसीदति इत्यवगम्यते शास्त्रप्रामाण्यात्, तथा अपरं ब्रह्म । प्र० ५।२

तस्मात् परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कार इत्युपचर्यते तस्मादेवं विद्वान् एतेनैव आत्मप्राप्तिसाधनेनैव ओङ्काराभिध्यानेन एकतरं परमपरं वा ब्रह्मानुगच्छति ।

नेदिष्ठं ह्यालम्बनमोंकारं ब्रह्मणः । अपरं च ब्रह्म प्राणाख्यं हिरण्य-गर्भाख्यं प्रथमजं च यत् । प्र० ५।२

(७९) ॐ कारमभिध्यायीत, आभिमुख्येन चिन्तयेत् । वाह्यविषयेभ्यो उपसंवृतकरणः समाहितचित्तः भक्त्यावेशितब्रह्मभाव ओंकारे आत्म-

प्रत्ययसंतानाविच्छेदः अभिन्नजातीयप्रत्यान्तराऽखिलीकृतो निवातस्थ-दीपशिखासमोऽभिध्यानशब्दार्थः।

सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह, त्याग, संन्यास, शौच, सन्तोष-अमायावित्वाद्यनेकयमनियमानुगृहीतः। प्र० ५।१

(८०) तस्मात् महतो ब्रह्मणो ज्ञानप्रतीकेन उपासनात् ज्ञानैश्वर्य-वन्तः भवन्ति। यथा गुणोपासनं फलम्।

(८१) एवम् एकोऽपि सन् ऐश्वर्ययोगात् अनेकभावमापाद्य सर्वाणि आविशति।

(८२) सर्वासामेव अभ्युदयप्राप्तिफलानां सगुणानां विद्यानां अशेषेण एषां देवयानाख्यगतिर्भवितुमर्हति।

(८३) फलं तु आतिथ्याद्युपासनमिव आदित्याद्युपासनेऽपि ब्रह्मैव दास्यति सर्वाध्यक्षत्वात्।

(८४) कानिचित् ब्रह्मणः उपासनानि कर्म समृद्धयर्थानि, कानिचित् अभ्युदयार्थानि, कानिचित् क्रममुक्त्यर्थानि तेषां गुणविशेषोपाधि-भेदेन भेदः। एक एव तु परमेश्वरः, तैस्तैः गुणविशेषैः विशिष्टः उपा-स्यो भवति। यथा गुणोपासन एव फलानि भिद्यन्ते। ब्र० १२।१।१

त्रिमात्रेण ओंकारेण आलम्बनेन परमात्मानमभिध्यायतः फलं ब्रह्म-लोकप्राप्तिः क्रमेण च सम्यक् दर्शनोत्पत्तिरिति क्रममुक्तिः।

(८५) हिरण्यगर्भोपासने हि अणिमादिप्राप्तिः अनैश्वर्यादिमृत्यु-तरणम्। यत्तु वायुविज्ञानात् क्वचिदमृतत्वमभिहितं तदापेक्षिकम्। ई०१४

(८६) तस्यैतस्य ब्रह्मणः साक्षात् उपलब्ध्यर्थं च हृदयाकाशस्थान-मित्युच्यते शालग्राम इव विष्णोः तस्मिन् हि तत् ब्रह्म उपास्यमाने मनोमयत्वादिधर्मविशिष्टं साक्षात् उपलभ्यते। पाणाविवामलकवत्।

(८७) या गतिः ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानफलभूता सापि नालं संसारदुखोपशमनाय। सर्वमपि एतद् उपासनाकर्मफलं संसार एव। इति

ज्ञानप्रकरणम्

(८८) अतः अशेषोपद्रवबीजस्य अज्ञानस्य निवृत्यर्थं विधूतसर्वो-पाधिविशेषात्मदर्शनार्थं आरभ्यते, "ब्रह्मविदाप्नोति परं" इत्यादि, अस्मात् विज्ञानात् सर्वात्मब्रह्मविषयात्, आत्यन्तिकः संसारोपरमः प्रयोजनम्। निर्ज्ञातयोस्तयोः हि सम्बन्धप्रयोजनयोः विद्याश्रवणग्रहण-धारणाभ्यासार्थं प्रवर्तते। तैतरेय १।२

(८९) विज्ञानं हि श्रेयःप्रतिबन्धकारणे तदपनयनाय यत्नः आरब्धुं शक्यते ।

(९०) आवृत्तं चक्षुः श्रोत्रादिकं इन्द्रियजातं अशेषविषयात् यस्य स आवृत्तचक्षुः स एव संस्कृतः प्रत्यगात्मानं पश्यति महता प्रयासेन स्वभावप्रवृतिनिरोधं कृत्वा प्रत्यगात्मानं पश्यति । कठ०

(९१) ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसं तथापि पुरुषेण कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा वा कर्तुं शक्यं पुरुषतन्त्रत्वात् । यथा पुरुषोवाव गौतमाग्निः योषा वा गौतमाग्निः इत्यत्र योषित् पुरुषयोः अग्निबुद्धिमानसी भवति केवल चोदनाजन्यत्वात् क्रियैव सा पुरुषतन्त्रा च ।

या तु प्रसिद्धे अग्नौ अग्निबुद्धिः न सा चोदनातन्त्रा नापि पुरुषतन्त्रा किं तर्हि ? प्रत्यक्षविषयवस्तुतन्त्रं वेति ज्ञानमेव तत् न क्रिया । एवं सर्वप्रमाणवस्तुषु वेदितव्यम् । १।४ ब्र०

(९२) कर्तृत्वादि सर्वसंसारधर्मनिराकरणं हि ब्रह्मणः आत्मोपदेशः । तदनिराकरणेन चोपासानाविधानम् । अतश्चोपासकस्य प्रतीकैः समत्वादात्मग्रहो नोपपद्यते । अ० ४।१।३—ब्र०

(९३) रहस्यसामान्यात् मनोवृत्तिसामान्याच्च यथा अद्वैतज्ञानं मनोवृत्तिमात्रं तथा अन्यान्युपासनानि मनोवृत्तिरूपाणि इत्यस्ति सामान्यम्, कस्तर्हि उपासनानां च विशेषः ? उच्यते स्वाभाविकस्य आत्मनि अक्रिये अध्यारोपितस्य कर्त्रादिकारकक्रियाफलभेद ज्ञानस्य निर्वतकमद्वैतज्ञानम् ।

उपासनं तु यथाशास्त्रसमर्थितं किञ्चिदालम्बनमुपादाय तस्मिन् समानचित्तवृत्तिः सन्तानकरणम्, तद्विलक्षणप्रत्ययानन्तरितम् इति विशेषः । तान्येतानि उपासनानि सत्त्वशुद्धिकरत्वेन वस्तुतत्वावभासकत्वात् अद्वैतज्ञानोपकारकाणि आलम्बनविषयत्वात् सुखसाध्यानि च । छान्दोग्योपक्रमे ।

(९४) एकमेव ब्रह्म अपेक्षितोपाधिसम्बन्धं, निरस्तोपाधिसम्बन्धं च उपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषु उपदिश्यते । द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरितं च सर्वोपाधिवर्जितम् ।

विद्याविद्योर्भेदेन ब्रह्मणो द्विरूपता तत्र अविद्यावस्थायां ब्रह्मणः उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारः ।

(९५) फलनिरपेक्षज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानात् कृतात्मसंस्कारस्य

उच्छिन्नात्मज्ञानप्रतिबन्धकस्य आत्मस्वरूपतत्त्वविज्ञानाय जिज्ञासा प्रवर्तते ।

(९६) आत्मज्ञानं तु विज्ञानानपेक्षम् । कस्मात् विज्ञानस्वरूपत्वात् ।

(९७) आत्मविज्ञानेन किं अमृतत्वमुत्पद्यते ? न, किं तर्हि ? स्वेनैव नित्यात्मस्वभावेन अमृतत्वं विन्दन्ते न आलम्बनपूर्वकम् । यदि हि विद्योत्पाद्यं अमृतत्वं स्यात् अनित्यमेव भवेत् कार्यवत्, विद्या अनात्मविज्ञानं निवर्तयति ।

(९८) अविद्याकृतानात्मापोहार्थत्वात् या हि ब्रह्मविषया स्वात्मप्राप्तिरुच्यते सा अविद्या कृतान्नादिविशेषात्मनः आत्मत्वेन अविद्यारोपितानात्मन अपोहार्थम् ।

(९९) सद्यो मुक्तिकारणं आत्मज्ञानम् ।

(१००) ज्ञानात् मोक्ष इति च सर्वोपनिषदां सिद्धान्तः ।

(१०१) ज्ञानस्य हि परा निष्ठा यदात्मैकत्वविज्ञानम् ।

(१०२) सगुणासु विद्यासु गतिरर्थवति न तु निर्गुणायां परमात्मविद्यायाम् ।

(१०३) यत्र हि निरस्तं सर्वविशेषसम्बन्धं, परं ब्रह्मात्मत्वेन उपदिश्यते तत्र विशेषसम्बन्धं एकरूपफलं मोक्षः । यत्र तु गुणविशेषसम्बन्धं प्रतीकं वा ब्रह्मोपदिश्यते तत्र संसारगोचराणि उच्चावचानि फलानि दृश्यन्ते । प्रत्यक्षफलत्वात् ज्ञानस्य, फलविरहे शंकानुपपत्तिः, कर्मफले स्वर्गादौ अनुभवानारूढे स्यात् शंका भवेद्वा नवा अनुभवारूढं ज्ञानफलम् ।

(१०४) निर्गुणायां तु विद्यायां अकर्त्रात्मत्वबोधात् कर्मप्रदाहसिद्धिः । पूर्वसिद्धकर्तृत्वभोक्तृत्वविपरीतं हि त्रिष्वपि कालेषु अकर्तृत्वाभोक्तृत्वस्वरूपं "ब्रह्माहमस्मि" न इतः पूर्वमपि कर्ता भोक्ता वा अहमस्मिन् इदानीं नापि भविष्यत्काले इति ब्रह्मवित् अवगच्छति ।

(१०५) न च द्वैतस्य अनृतत्वबुद्धिः प्रथममेव कस्यचित्स्यात् । ३।२।४ ब्र० ।

(१०६) प्राक् ब्रह्मात्मदर्शनात् वियदादिप्रपञ्चो व्यवस्थितरूपो भवति ।

(१०७) देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः । तद्वदेवेदं प्रमाणत्वात्मनिश्चयात् । देहादिसंघाते आत्माभिमानः, अविद्यात्मकः ।

(१०८) भ्रान्तिप्रत्ययनिमित एवायं संसारभ्रमः, न तु परमार्थः, सम्यक् दर्शनात्, अत्यन्तमेव उपरमः ।

(१०६) फलार्थित्वात् अविद्वान् प्रवर्तते। यः पुनः कर्ताहमिति वेत्यात्मानं तस्य ममेदं कर्तव्यम् इत्यवश्यंभाविनी बुद्धिः स्यात्,तदपेक्षया सोऽधिक्रियते इति तं प्रति कर्माणि; सम्भवात्, स च अविद्वान्।

(११०) यानि कर्माणि शास्त्रेण विधीयन्ते तान्यपि अविदुषो विहितानि।

(१११) किमर्थं तर्हि भक्तैः पूजादिलक्षणं याग, दान, होमादिकं सुकृतं प्रयुज्यते? इत्याह—अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः। मुह्यन्ति—करोमीति मोहं गच्छन्ति अविवेकिनः।

अविद्याकृतत्वात् बन्धस्य, विद्यया मोक्ष उपपद्यते। विद्यायां हि उदितायां शार्वरमिव तमःप्रणाशमुपगच्छत्यविद्या।

(११३) ज्ञानकर्मणोः कर्तृत्वाकर्तृत्वबुद्ध्याश्रययोः युगपत् एकपुरुषाश्रयत्वासम्भवः, न ह्येकस्य मुमुक्षुत्वं फलार्थित्वञ्च युगपत् सम्भवति। एकस्य पुरुषस्य ज्ञानकर्मणोः विरोधात् युगपत् अनुष्ठानं न सम्भवति।

(११४) स साधनं कर्म संन्यस्य शरीरयात्रामात्रचेष्टो यतिर्ज्ञाननिष्ठो मुच्यते। बाह्यलाभनिरपेक्षः परमार्थदर्शनामृतरसलाभेन अन्यस्मादलं प्रत्ययवान् स्थितप्रज्ञः।

(११५) आत्मज्ञानं ससंन्याससममृतत्वसाधनम्। शास्त्राचार्योपदेशशमदमादिसंस्कृतं मनः आत्मदर्शनकारणम्।

(११५) अक्षरोपासकानां सम्यक् दर्शननिष्ठानां "अद्वेष्टा सर्वभूतानां" इत्यादि धर्मपूगः साक्षादमृतत्वकारणम्।

(११७) पुरुषकारस्य शास्त्रस्य च विषयः शास्त्रार्थे प्रवृत्तः पूर्वमेव रागद्वेषयोर्वशं नागच्छेत्। या हि पुरुषस्य प्रवृतिः सा राग, द्वेष, पुरःसरैव स्वकार्ये प्रवर्तयति, तदा स्वधर्मपरित्यागं परधर्मानुष्ठागं च भवति। यदा पुनः रागद्वेषौ तत्प्रतिपक्षेण नियामयति तदा शास्त्रदृष्टिरेव पुरुषो भवति न प्रकृतिवशः।

(१२८) नहि इच्छाद्वेषदोषवशीकृतचित्तस्य यथाभूतार्थविषय उत्पद्यते बहिरपि, किमु वक्तव्यं ताभ्यामाविष्टबुद्धेः सम्मूढस्य प्रत्यगात्मनि बहुप्रतिबद्धज्ञानं न उत्पद्यते इति।

(१२६) भूतं ब्रह्म जिज्ञासितव्यं नित्यत्वात्, न पुरुषव्यापारो यथाऽभूत् ब्रह्मविषयं, न चोदनातन्त्रं यथा अक्षार्थसन्निकर्षेण अर्थावबोधस्तद्वत्। वस्तु अस्ति नास्ति इति वा विकल्प्यते। न वस्तु

याथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षं किं तर्हि ? वस्तुतन्त्रमेव तत् ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव वस्तुविषयत्वात् ।

(१३०) यश्चान्यो विज्ञानस्य ग्रहीता स आत्मा ज्योतिरन्तरं विज्ञानात् ।

(१३१) आत्मा नाम न कस्यचित् अप्रसिद्धः प्राप्यो हेयो उपादेयो वा ।

(१३२) यथा स्वदेहस्य परिच्छेदाय न परिमाणान्तरापेक्षा, तथा आत्मनः आन्तरतमत्वात् यद् अवगतिं प्रति न प्रमाणान्तरापेक्षा इत्यात्मज्ञाननिष्ठा विवेकिनः सुप्रसिद्धा ।

(१३३) आत्मा तु प्राणादिव्यवहारस्य आश्रयत्वात् प्रागेव व्यवहारात् सिद्धयति ।

(१३४) ज्ञानवशेन ज्ञेया गतिः इतिज्ञानमत्यन्तं प्रसिद्धं सुखादिवत् इत्यभ्युपगन्तव्यम् । अतोऽत्यन्तप्रसिद्धं ज्ञानं ज्ञातरि अपि प्रसिद्धम् ।

(१३५) इदं ज्ञेयमतीन्द्रीयत्वेन शब्दैकप्रमाणगम्यम्, नान्यथा अदृष्टत्वात् ।

(१३६) शास्त्रं तु अन्त्यं प्रमाणं अतद्धर्माध्यारोपणमात्रनिवर्तकत्वेन प्रामाण्यमात्मना प्रतिपद्यते न तु अज्ञातार्थज्ञापकत्वेन ।

(१३७) नैसर्गिको मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्व-भोक्तृत्व-प्रवर्तकोऽध्यासः सर्वलोकप्रत्यक्षः । अस्य अनर्थहेतोः परिहाराय आत्मैकत्व-विद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते । न च जीवस्य उपाधि व्यतिरेकेण परिच्छेदो विद्यते ।

(१३८) आत्मा च ब्रह्म । मोक्षस्य नित्यत्वात् अनारब्धव्यम् । अद्वयत्वात् अविषयत्वात् आत्मत्वाच्च 'इदं ज्ञेयं' न केनचित् शब्देन उच्यते इति युक्तम् ।

(१३९) न हि नित्यं वस्तु कर्मणा ज्ञानेन वा विक्रियते ।

(१४०) न हि पारमार्थिकं वस्तु कर्तुं निर्वर्तयितुं वाऽर्हति ब्रह्मविद्या ।

(१४१) रूपाद्यभावात् हि नायमर्थो प्रत्यक्षगोचरः लिङ्गाद्यभावाच्च न अनुमानादीनाम् ।

(१४२) न हि अन्यत्वं जीवस्य ईश्वरादुपपद्यते ।

(१४३) अभावः शरीरेन्द्रियाणां मोक्षे ।१२।४-४-ब्र०

(१४४) अविद्या व्युत्थानावसानमेव पाण्डित्यम् । अविक्रिया मात्रत्वात् व्युत्थानस्य ।

(१४५) कर्मनिष्ठाया ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिहेतुत्वेन पुरुषार्थहेतुत्वं न स्वातन्त्र्येण।

(१४६) न हि उपायमन्तरेण उपेयप्राप्तिरस्ति। कर्मयोगोपायत्वं च नैष्कर्म्यलक्षणस्य योगज्ञानस्य।

(१४७) नैष्कर्म्यसिद्धिः परमा कर्मजसिद्धिः विलक्षणा, सद्यो मुक्त्यवस्थानरूपा सम्यक् दर्शनेन प्राप्नोति।

(१४८) मोक्षसाधनभूतात्मज्ञानपरिपाकार्थत्वात् संन्यासस्य।

(१४९) परया भक्त्या भगवन्तं तत्वतो अभिजानाति यदनन्तरमेव ईश्वरक्षेत्रज्ञभेदबुद्धिरशेषतो निवर्तते।

(१५०) ज्ञानसाधनगणः अमानित्वादिः यत्परः संन्यासी ज्ञाननिष्ठः उच्यते।

(१५१) मुक्तावस्था सर्ववेदान्तेषु एकरूपैव अवधार्यते। ब्रह्मैव मुक्तावस्था।

(१५२) दर्शनपर्यवसानानि हि वर्णादीनि आवर्त्यमानानि दृष्टार्थानि भवन्ति।

(१५३) परब्रह्मविषयेऽपि प्रत्यये तदुपाय उपदेशेषु आवृत्तिसिद्धिः।

(१५४) अनवगमनिवृत्तेः दृष्टत्वात् दृश्यते हि एकत्वविज्ञानादेव अनवगमनिवृत्तिः ।१।८।१० वृ०

(१५५) ज्ञानाभ्यासश्च प्रधानमिह यतीनां अनुष्ठेयम्।

(१५६) जगदुत्पत्यादिव्यापारं वर्जयित्वा अन्यत् अणिमाद्यात्मकं ऐश्वर्यं मुक्तात्मनो भवतुमर्हति जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्य ईश्वरस्य।

(१५७) भ्रान्तिप्रत्ययनिमित्तमेवायं संसारभ्रमो न तु परमार्थः इति सम्यक् दर्शनादत्यन्तमेवोपरतिरिति सिद्धम्।

(१५८) शरीरारम्भकस्य कर्मणो नियतफलत्वात् सम्यक् ज्ञानप्राप्तावपि अवश्यम्भाविनी प्रवृत्तिः वाङ्मनसो लब्धवृते कर्मणो बलीयस्त्वात् मुक्तेष्वादिप्रवृत्तिर्वत्। तेन पक्षे प्राप्तं ज्ञानप्रवृत्तिदौर्बल्यं तस्मात् त्यागवैराग्यादिसाधनबलावलम्बनेन आत्मविज्ञानस्मृतिसन्ततिः नियन्तव्या भवति ।१।४।७। वृ०।

(१५९) सर्वदुःखविनिर्मुक्तैकचैतन्यात्मकोऽहं इत्येष आत्मानुभवः। न चैनं आत्मानुभवतः किञ्चिदन्यत् कृत्यं अवशिष्यते।

(१६०) ब्रह्मभावश्च मोक्षः।

(१६१) यद्ब्रह्मविद्यया, ब्रह्म परमात्मा तद् यया वेद्यते सा ब्रह्मविद्या तया वृ० ।६।१।४
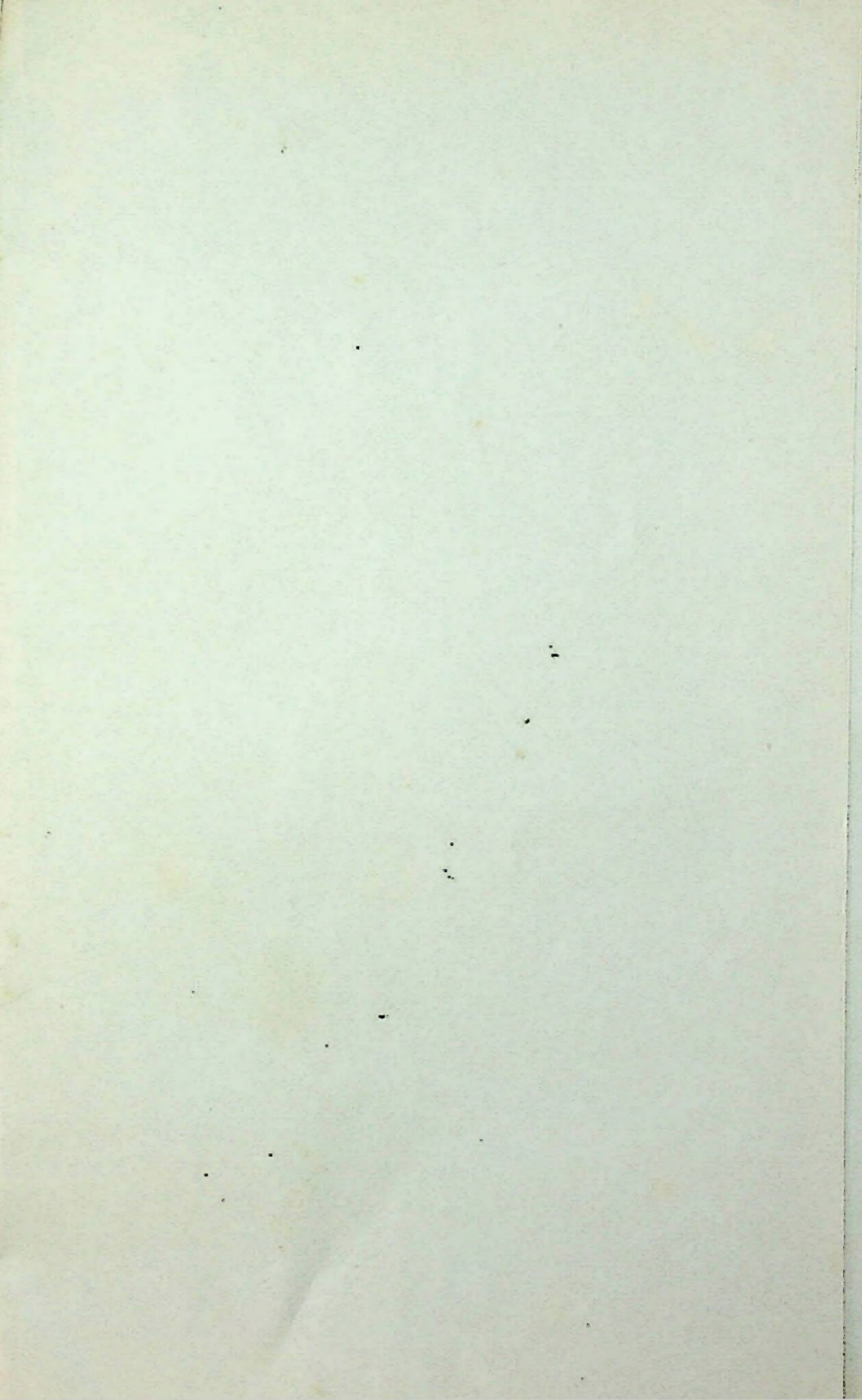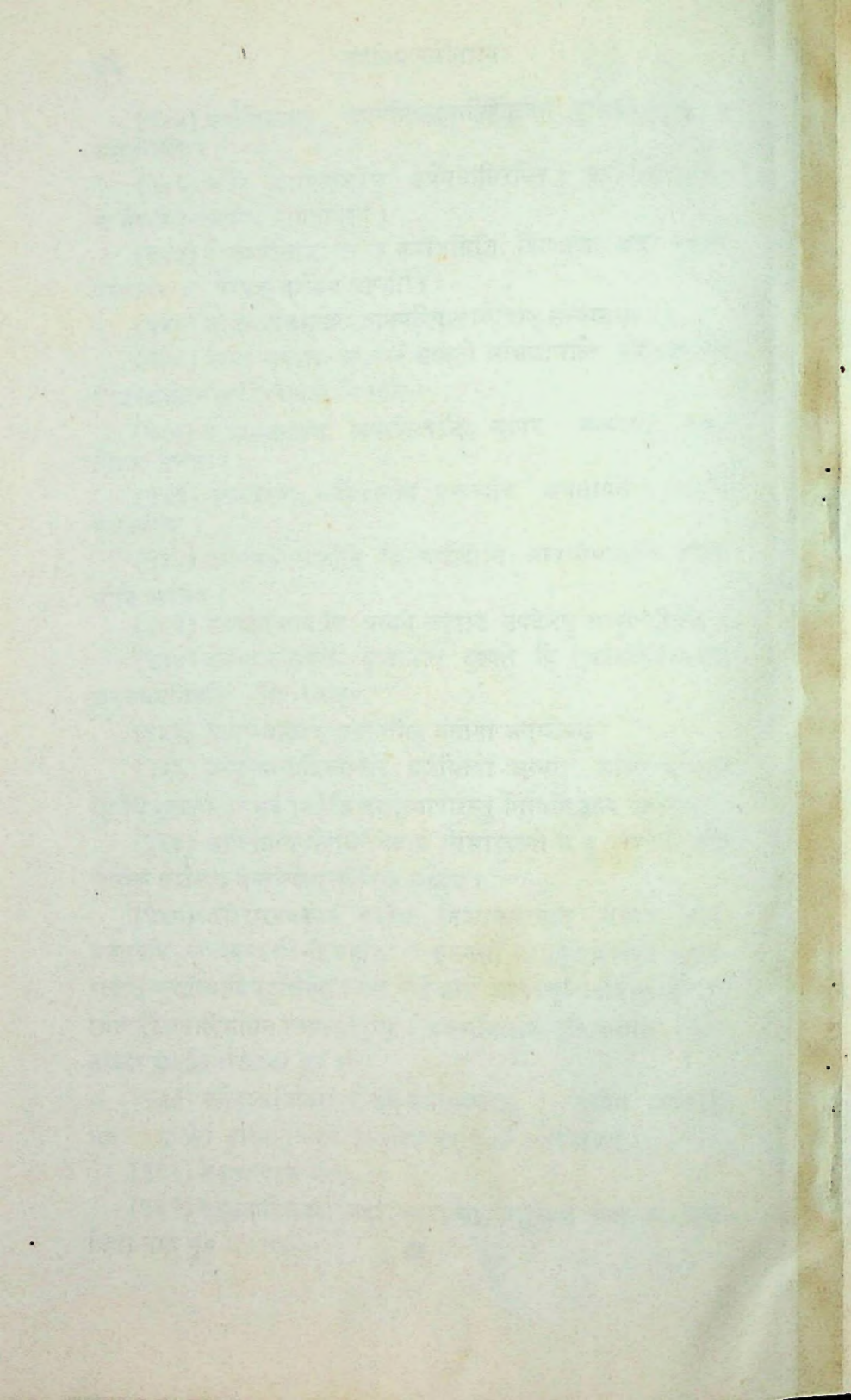
ऋग्वेद संहिता

'सायणभाष्य' सहिता

सम्पादक—एफ० मैक्समूलर

जो ग्रन्थ जर्मनी में छपने के कारण भारत में अनुपलब्ध था, उसी का यह भारतीय संस्करण है। विशेष माँग के कारण लक्षाधिक व्यय से पुनः 'कृष्णदास अकादमी' द्वारा फोटो आफसेट से अविकल आकार-प्रकार और मोटे अक्षरों में छापा गया है। सम्पादक महोदय के जीवनव्यापी श्रम एवं शोध का परिणाम इस परिशुद्ध संस्करण के रूप में प्रस्तुत है। इसमें प्रति-संस्करण तथा प्रतिभाग के विचारपूर्ण आमुख, संकेतसूची आदि उपयोगी विषय भी ग्रन्थारम्भ में उपन्यस्त हैं। अन्त में सर्वोत्तम विशुद्ध पाण्डुलिपि तथा प्रातिशाख्य के प्रमाणों के आधार पर शुद्धाशुद्धि की विस्तृत सूची भी बड़ी उपयोगी है।

डबल डिमाई ८ पेजी, स्थूलाक्षर, पक्की जिल्द, १-५ खण्ड मूल्य २०५०-००

अथर्ववेद संहिता

श्रीमत्सायणाचार्यविरचित 'माधवीयवेदार्थप्रकाश' सहित एवं समालोचनात्मक विस्तृत अंग्रेजी भूमिका सहित

(१ से ४ भाग)

सम्पादक—श्री शंकर पाण्डुरंग पण्डित

अथर्ववेदसंहिता का यह संस्करण आज से प्रायः तीन-चार सौ वर्ष पूर्व हस्तलिखित अहमदाबाद-स्थित श्री जयशंकर हरिशंकर महानुभाव से प्राप्त, विशुद्ध विशिष्ट प्रामाणिक दुर्लभ पाण्डुलिपि के आधार पर श्री शंकर पाण्डुरंग पण्डितप्रवर द्वारा सम्पादित तत्कालीन निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से करीब सत्तानवे वर्ष पूर्व (१८९५ में) प्रकाशित हुआ था।

सुदीर्घ काल से अप्राप्त यह उत्कृष्ट ग्रथ विद्वत्समाज के विशेष आग्रह पर लक्षाधिक द्रव्य-व्यय भार वहन कर कृष्णदास अकादमी द्वारा आफसेट से अविकल पुनः प्रकाशित हुआ है।

डिमाई ८ पेजी साइज स्थूलाक्षर, पक्की जिल्द मूल्य रु० १५००-०